॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सागरके मोती

पराकृतनमद्‌बन्धं परं ब्रह्म नराकृति। सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः।।

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये। ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्। देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्।।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्

पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।

हरिः ॐ नमोऽस्तु परमात्मने नमः।

श्रीगोविन्दाय नमो नमः।

श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

महात्माभ्यो नमः।

सर्वेभ्यो नमो नमः।

किसीको भी बुरा समझे नहीं, बुरा चाहे नहीं और बुरा करे नहीं। किसीको बुरा समझनेसे वह भी बुरा बन जायगा और हमारेमें भी बुराई आ जायगी। किसीको बुरा समझना अपनेमें बुराईको निमन्त्रण देना है।

स्वरूपमें बुराई नहीं है। बुराई आगन्तुक है। बुराई स्थायी नहीं है, असत् है। बन्धन कृत्रिम है, मुक्ति स्वतःसिद्ध है। मनुष्य केवल (सर्वथा) भला हो सकता है, पर केवल बुरा कोई हो सकता ही नहीं।

बुराई देखनेसे बुराईके के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। किसीको भी बुरा नहीं मानें तो संसारकी सेवा हो जायगी। बुरा देखोगे तो '**वासुदेवः सर्वम्**' कैसे मानोगे?

— — —

परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, उसकी इच्छा कठिन है। हम परमात्माकी आवश्यकता नहीं मानते, तभी उनकी प्राप्ति कठिन दीखती है। सुखभोग तथा संग्रहकी इच्छाके कारण ही परमात्मप्राप्ति कठिन हो रही है। शरीरके आरामकी जितनी इच्छा है, उतनी परमात्माकी नहीं है। परमात्मप्राप्तिमें विश्वास और विवेककी जरूरत है, शरीरकी जरूरत नहीं है।

'कर्मयोग' कामना-त्यागसे आरम्भ होता है और कामना-त्यागमें ही समाप्त होता है। 'भक्तियोग' भगवत्प्रेमसे आरम्भ होता है और भगवत्प्रेममें ही समाप्त होता है। 'ज्ञानयो' विवेकसे आरम्भ होता है और विवेकमें ही समाप्त होता है।

— — —

निषिद्ध कर्मोंका त्याग बहुत जरूरी है। संसारको भी चाहते हो और भगवान्‌को भी चाहते हो तो किया हुआ साधन व्यर्थ नहीं जायगा, पर वर्तमानमें लाभ नहीं होगा।

कोई भी कर्तव्य-कर्म दूसरोंके हितके लिये किया जाय तो वह भजन है, और अपने लिये किया जाय तो पाप है। समाधि भी अपने लिये नहीं करनी है। संसार या भगवान्‌के लिये करना है। अपने सुखके लिये कर्म करनेवाला राक्षसकी श्रेणामें आता है। कर्म शरीरसे करना और फल स्वयं चाहना क्या उचित है? शरीर तो संसारका और संसारके लिये है। शरीरके द्वारा संसारकी सेवा होनी चाहिये।

जो अपने शरीरका पोषण नहीं करता, उसके शरीरका पोषण संसार करता है; जैसे माँ बालकाका पोषण करती है। आप शरीरको अपना मत मानो तो शरीरको भोजन देनेका माहात्म्य हो जायगा। शरीरको संसारका मानो तो संसारकी सेवा हो जायगी, और भगवान्‌का मानो तो भगवान्‌की सेवा हो जायगी।

जिसकी सेवा करते हो, उससे अपनापन हटा लो अथवा जिसको अपना नहीं मानते, उसकी सेवा करो—दोनोंका फल बराबर है।

— — —

सत्संग मिलनेके समान कोई लाभ नहीं है। परन्तु असली सत्संग मिलना कठिन है। एकान्तमें भजन करनेकी अपेक्षा सत्संगसे, वास्तविक तत्त्वका विवेचन करनेवाली पुस्तकोंसे बहुत लाभ होता है। असली सत्संग है—भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका संग अथवा एक भगवान्‌में प्रियता। सत्संगसे तत्काल लाभ होता है। सत्संगकी महिमा मैं कह नहीं सकता। जैसे बालक कब बड़ा हो गया—इसका पता नहीं लगात, ऐसे ही सत्संगमें बैठे-बैठे कितना लाभ होता है—इसका पता नहीं लगता

संसार प्रतीतिमात्र है, है नहीं। इसको 'है' मानना अनर्थकारक है, जिससे भोग तथा संग्रहकी रुचि पैदा होती है। 'नहीं' को स्थायी माननेसे 'है' दीखता नहीं। जो 'है', वही परमात्मा है। संसार है ही नहीं, केवल मृगतृष्णाकी तरह प्रतीति है।

— — —

संसार बाधक नहीं है, प्रत्युत उससे सुख लेनेकी इच्छा बाधक हैं सुख चाहनेवाला दु:खसे कभी बच सकता ही नहीं। शरीर, रुपये, घर, कुटुम्बी आदि कुछ भी बाधक नहीं है। बाधक है 'मैं सुख ले लूँ'—यह भाव। यह राक्षसपना है। इच्छामात्र बाधक है, चाहे वह अच्छी हो या बुरी। सब कुछ परमात्मा ही हैं, पर वे भोग्य नहीं हैं। आप उन्हें भोग्य बनाकर सुख भोगना चाहोगे तो दु:ख पाते रहोगे।

अप्राप्तकी इच्छा करनेसे बन्धन होता है और प्राप्तकी इच्छा करनेसे दूरी होती है।

कर्म करनेसे और चिन्तन करनेसे प्राकृतिके साथ सम्बन्ध होता है। कुछ करे नहीं, चिन्तन करे नहीं तो स्वरूपमें स्थिति हो जायगी। न कुछ करो, न कुछ सोचो, न कुछ चाहो। कुछ भी चिन्तन करोगे, समाधि भी करोगे तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध हो जायगा।

यदि शरीर मैं हूँ तो संसार हमारा इष्ट, पूजनीय है। अंशके लिये अंशी पूज्य होता है। पूज्यमें द्वेषबुद्धि नहीं होती। अत: किसीका बुरा न करो, न चाहो तो कल्याण हो जायगा। इष्टको कोई बुरा मानता है? कोई उसका बुरा करता है?

रामायण पूजनीय है तो उसमें अयोध्याकाण्ड भी है, लंकाकाण्ड भी है। उसे रामचरित कहते हैं, रावणचरित नहीं कहते। इसी तरह सब संसार पूजनीय है। इस प्रकार संसारको सत्य मानो, इष्ट मानो तो कल्याण हो जायगा।

परमात्मामें (सगुण-निर्गुण आदिका) भेद करना गलती है, और संसारमें एकता करनी गलती है।

आरम्भसे ही भक्ति करना सर्वश्रेष्ठ है। गीता ज्ञानयोगसे कर्मयोगको और कर्मयोगसे भक्तियोगको श्रेष्ठ मानती है। भगवान्‌में प्रेम होनेका नाम 'भक्ति' है। प्रेमके समान कोई चीज है ही नहीं। प्रेमके बिना ज्ञान सूखा है। यदि प्रेम शरीरमें है तो भले ही ब्रह्मकी बातें कर लो, कुछ लाभ नहीं। जैसे रुपये लोभीकी दृष्टिमें कीमती हैं; अतः धन बड़ा नहीं, लोभ बड़ा है। ऐसे ही भगवान्‌का प्रेम बड़ा है, भगवान् नहीं।

— — —

बालकोको माँके समान प्रिय कोई चीज नहीं लगती। हम सब भगवान्‌के बेटे हैं। जबतक हम भगवान्‌से विमुख रहते हैं, तबतक शान्ति नहीं मिलती। संसारसे विमुख होनेपर एक शान्ति मिलती है। परन्तु भगवान्‌के सम्मुख होनेपर प्रेमकी जो मस्ती आती है, वह ज्ञानसे नहीं आती। भगवत्प्रेममें जो विलक्षण रस है, वह ज्ञानमें नहीं है। यह मेरेपर बीती बात है! गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहूँ न जाई।। (मानस, उत्तर० 49। 3)

ज्ञानमें मतभेद रहता है, भक्तिमें नहीं। भक्तिमें जो अद्वैत है, वह ज्ञानमें नहीं है। ज्ञानमें जड़ताका त्याग करते हैं तो जड़ताका सूक्ष्म संस्कार रहता है। भक्तिमें '**वासुदेवः सर्वम्**' होनेसे त्याज्य वस्तु कोई होती ही नहीं।

— — —

जो आदि-अन्तमें होता है, वही मध्यमें होता है। स्वप्नसे पहले और बादमें हम रहते हैं तो स्वप्नके समय भी हम रहते हैं। हम जाननेवाले हैं। जाननेवाला जाननेमें आनेवाली वस्तुसे अलग होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—इन पाँचों अवस्थाओंको हम जानते हैं; अतः हमारा स्वरूप इन पाँचों अवस्थाओंसे रहित है। अवस्थाओंका भाव और अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। इस अवस्थाओंके अधीन नहीं है। अवस्थाएँ छूटती हैं, पर हम रहते हैं। विकार आते-जाते हैं, पर हम भोक्त बनते हैं। जबतक आने-जानेवाली चीजोंका हमपर असर पड़ता है, तबतक हम स्वरूपमें स्थित नहीं हैं।

'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता 2। 26) 'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।' असत्‌की निरन्तर निवृत्ति हो रही है। सत्‌की प्राप्ति निरन्तर हो रही है। 'रहते' में रहो, 'बहते' के साथ मत बहो। बहनेवालेमें भी दो विभाग हैं—दीखनेवाला और देखनेवाला (इन्द्रियाँ, अन्तःकरण)। 'नहीं' से 'है' कैसे दीखेगा? 'है' से 'नहीं' कैसे दीखेगा? 'नहीं' से 'नहीं' ही दीखेगा।

— — —

मनुष्य अपनेमें कमीका अनुभव करता है तो दूसरोंका सहारा लेता है। जबतक यह परमात्माका आश्रय नहीं लेगा, तबतक उसकी कमी दूर नहीं होगी और वह दुःख पाता ही रहेगा। जीव परमात्माका ही अंश है, इसलिये परमात्माका सहारा लेनेसे ही उसकी कमी दूर होगी। द्वैत, अद्वैत आदि सभी उसका सहारा लेनेके लिये ही हैं। अद्वैत केवल द्वैतका निषेध करनेके लिये है। सभी मार्गोंमें त्याग मुख्य है; क्योंकि संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है।

साधन दो हैं—संसारसे सम्बन्ध तोड़ना और परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ना। भगवान्‌के शरण होनेपर संसारसे सम्बन्ध
ा-विच्छेद भगवान् करा देते हैं और जल्दी करा देते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। (गीता 12। 7)

'हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

गुरु तो छोटा (चेला) बनाता है, पर भगवान् ऊँचा बनाते हैं। ऊँचे गुरु ऊँचा ही बनाते हैं। इसलिये दास्यचरित सख्यरतिमें बदल जाती है। शरणमें जानेसे भगवान् अपने-आपको देते हैं। बालक माँका आश्रय लेता है तो माँ उसके वशमें हो जाती है। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ, और किसीका नहीं'—इसके आगे भगवान् निर्बल हो जाते हैं! परन्तु जीवकी निर्बलता है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की।। (मानस, अरण्य० 10। 4) अन्यका सहारा लेना। अनन्यभक्तके लिये भगवान् सुलभ हैं—'तस्याहं सुलभः पार्थ' (गीता 8। 14)। भजनका भी आश्रय न मानकर केवल भगवान्‌के आश्रित हो जाय। यह शरणागतिका मार्ग सबसे श्रेष्ठ और सुगम है। भगवान् भी शरणागत भक्तके शरण हो जाते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता 4। 11)।

दास्य, सख्य आदि भाव तत्त्वज्ञान होनेके बाद केवल चिन्मय तत्त्वमें ही होते हैं।

— — —

जीव स्वयं अविनाशी होकर नाशवान्‌को अपना मानता है—यह कितनी बड़ी भूल है! जाने हुए असत्‌का त्याग करना है। आप स्वयं बालक, जवान, रोगी, निर्धन आदि नहीं होते। आप तो इनको जाननेवाले हैं। जैसे मृत्युके समय एक आघात लगता है, जिससे आप पूर्वजन्मको भूल जाते हैं। ऐसा आघात बालकपन जानेपर नहीं लगा, इसीलिये आप उसे भूले नहीं।

नया उद्योग कुछ नहीं करना है। जो निवृत्त है, उसीकी निवृत्ति करनी है और जो प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है। भगवान्‌को अपना माननेमें अभ्यास नहीं है। विवाहके बाद नये घरको अपना माननमें लड़कीको अभ्यास नहीं करना पड़ता। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, बोध नहीं होता।

हम भगवान्‌के हैं—इतनी बात मान लो तो बेड़ा पार है! अभी ऐसा मान लो कि हम भगवान्‌के हैं, फिर अपने-आप दीखने लग जायगा; क्योंकि यह सही बात है।

— — —

शरणागति सम्पूर्ण साधनोंमें श्रेष्ठ है। गीताके अन्तमें भी भगवान्‌ने शरणागतिकी बात कही है और इसे 'सर्वगुह्यतम' बताया है। भक्त उद्धार करके भगवान्‌को बड़ी प्रसन्नता होती है। शरणमें जाना भक्तका काम है, उद्धार करना भगवान्‌का काम है, और प्रेम करना भक्त व भगवान्—दोनोंका काम है।

शरण लेनेका काम भगवान्‌का नहीं है। भगवान्‌ने अपने कल्याणके लिये जीवको स्वतन्त्रता दी है। शरण होकर जीव निश्चिन्त, निःशोक, निर्भय और निःशंक हो जाता है। शरण होना गीताका अन्तिम सिद्धान्त है। शरणागति

गीताभरकी सार बात है।

जबतक अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन आदिका आश्रय रहता है, तबतक असली शरणगति नहीं होती।

— — —

गुरुकी प्रसन्नतासे विद्या सफल होती है, और प्रसन्नता न होनेसे विद्या विफल होती है—ऐसे कई उदाहरण मैंने देखे-सुने हैं। अत: विद्यार्थीको चाहिये कि वह गुरुकी सेवा करे, उनकी आज्ञा माने और उनकी प्रसन्नता ले। गुरुकी आज्ञाका पालन करना एक नंबरकी सेवा है। आज्ञापालनेसे गुरुकी विशेष कृपा प्राप्त होती है।

विद्यार्थियोंकी बुद्धि कमजोर हो—यह मैं नहीं मानता। वास्तविक बात यह है कि वे परिश्रम नहीं करते। वे परिश्रम करें तो गुरु भी प्रसन्न होंगे और माता-पिता भी।

विद्यार्थिको केवल बुद्धिबल ही नहीं, प्रत्युत मनोबल, शरीरबल आदि सभी बल बढ़ाने चाहिये। उसे व्रत-उपवाससे शरीरको कृश नहीं करना चाहिये।

विद्यार्थीको अपनी विद्याका अभिमान नहीं करना चाहिये। मैं जानकार हूँ—ऐसा अभिमान होनेसे जानना बन्द हो जायगा, और नहीं बढ़ेगा।

— — —

हमारे पास सबसे मूल्यवान् वस्तु है—मनुष्यजीवनका समय। महिमा वस्तुकी नहीं है, प्रत्युत वस्तुके उपयोगकी है। मनुष्यशरीरके सदुपयोगकी महिमा है। इसके सदुपयोगसे सर्वश्रेष्ठ परमप्रेमकी प्राप्त हो सकती है, और दुरुपयोगसे नरकोंकी भी प्राप्ति हो सकती है! सदुपयोगसे भी ज्यादा महिमा है—दुरुपयोग न करे। विहित कर्म करनेकी अपेक्षा भी निषिद्ध कर्मोंका त्याग विशेष है। निषिद्ध आचरण रहते हुए विहित कर्म करनेपर भी विशेष लाभ नहीं होता, जैसा कि होना चाहिये। निषिद्ध कर्मोंके होनेमें कारण है—कामना! कामनाके कारण मनुष्य न चाहते हुए भी पाप कर बैठता है (गीता 3। 36-37)। निषिद्ध आचरण करनेवाला 'साधक' नहीं कहलाता, प्रत्युत 'संसारी' कहलाता है।

प्रत्येक कार्य करते समय यह ध्यान रखें कि हमारा उद्देश्य क्या है? हम मुक्तिके लिये करते हैं या बन्धनके लिये? हम क्या चाहते हैं? अपनी चाहना मत रखो—

मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अग्यान।

तेरी चाही में प्रभो, है मेरा कल्यान।।

कामनापूर्ति में समय लगाना समयका दुरुपयोग है। अनुकूलताकी इच्छा पतन करनेवाली है। मिलनेवाली अनुकूलता तो मिलेगी ही। अनुकूलता आपकी इच्छाके अधीन नहीं है। आपकी इच्छाके अधीन तो पतन है!

— — —

मनुष्य वर्तमानको देखता है और भूत-भविष्यकी, चिन्ता करता है। चिन्ता उसकी करता है, जो अभी है नहीं। वर्तमानको ठीक बनाओ। वर्तमान ठीक होगा तो भूत भी ठीक हो जायगा, भविष्य भी; क्योंकि भविष्य भी वर्तमानमें आयेगा।

करनेयोग्य कर्म न करनेसे और न करनेयोग्य कर्म करनेसे दु:ख होता है। अत: ऐसा कर्म करें, जिससे अभी भी हित हो और परिणाममें भी, हमारा भी हित हो और दूसरोंका भी। दूसरोंको दिया गया दु:ख कई गुना होकर मिलेगा; क्योंकि यह मनुष्यशरीर खेत है। किसीके अहितकी भावना करना अपने अहितको निमन्त्रण देना है।

— — —

मनुष्यशरीर अपने उद्धारके लिये मिला है। अत: जो देश, काल, परिस्थिति आदि मिली है, उसीमें परमात्मप्राप्ति हो सकती है। हरेक मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, केवल अपनी इच्छा होनी चाहिये। सच्ची लगन हो तो भगवान् सहायता करते हैं। जैसे—कोई साधक किसी जगह अटका है, छोड़ना नहीं चाहता, उसको भगवान् वह जगह छुड़ा देते हैं। जहाँसे लाभ भी न हो और छोड़ना भी न चाहे, उसके सामने ऐसी परिस्थिति रखते हैं कि उसे छोड़ना ही पड़ता है।

भगवान्‌का मनुष्यशरीरसे पक्षपात है!

— — —

भगवद्‌भजनमें परतन्त्रता नहीं होती—यह सिद्धान्त है। सांसारिक प्रतिकूलता भजनमें बाधक नहीं होती। प्रतिकूलतामें मनुष्य संसारसे ऊँचा उठता है। भगवान्‌ने भागवत्‌में कहा है कि मैं कृपा करता हूँ तो धन हरण कर लेता हूँ अर्थात् प्रतिकूलता भेजता हूँ। भगवान् धन नहीं हटाते, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिकी बाधा हटाते हैं। जो भगवत्प्राप्ति चाहता है, उसकी बाधा हटाते हैं।

अपने सुख-दु:खका कारण दूसरेको मानना ही बाधा है। सुख या दु:खको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है—'**सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता**' (अध्यात्म० 2। 6। 6)। मनुष्य वर्तमानके कर्मोंसे बँधता है, पूर्वके कर्मोंसे नहीं। पूर्वकर्मोंके अनुसार तो परिस्थिति आती है। परिस्थिति दु:ख नहीं देती, प्रत्युत अनुकूलताकी इच्छा दु:ख देती है।

सांसारिक प्रतिकूलता पारमार्थिक मार्गमें बाधक नहीं है, प्रत्युत साधक है। वास्तवमें न बाधक है, न साधक, प्रत्युत भजनमें सभी स्वतन्त्र हैं। परन्तु मनुष्य अनुकूलतामें न तो भजन करता है, न पुण्य करता है। अनुकूलताकी इच्छा मिटा दो और प्रतिकूलताका भय मिटा दो। इनकी परवाह मत करो। अनुकूलताका भोग करोगे तो प्रतिकूलता आयेगी ही।

कोई हमारे प्रतिकूल हो या अनुकूल, हमारा काम है—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेका हित करना। दूसरा हमें सुख दे या दु:ख, जिस तरहसे उसका हित हो, वैसा काम करो। क्रोध करनेसे उसका हित होता हो तो वैसा करो। दण्ड देना राजाका काम है। हमारा ध्येय हितका हो। आततायीसे रक्षा करना हमारा काम है, रक्षा करते हुए वह मर जाय तो पाप नहीं लगेगा। यद्यपि आततायीको मारनेका पाप नहीं लगता, तथापि हमारा उद्‌देश्य मारनेका नहीं होना चाहिये। अराजकताके समय सबका क्षात्रधर्म होता है।

सभी प्रश्नोंका उत्तर शास्त्रमें है, हम जानें चाहे न जानें। परमात्मप्राप्तिमें अनुकूलता-प्रतिकूलता न साधक होती है, न बाधक। प्रतिकूलतासे बाधा अपने सुखमें आती है, भजनमें नहीं। प्रतिकूलता आनेपर विवेक काम न करे तो द्रौपदी, गजेन्द्रकी तरह भगवान्‌को पुकारो।

— — —

व्यवहार बिगड़ा है, परमार्थ नहीं इसलिये व्यवहार-सुधारकी बड़ी भारी आवश्यकता है। कोई भी कर्म करते समय हम किसी भाव उद्‌देश्यसे कर्म कर रहे हैं—इसे जाननेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। प्राय: साधककी दृष्टि क्रियापर

जाती है, भावपर बहुत कम। भावपर, उद्देश्यपर दृष्टि रखे तो बहुत जल्दी उन्नति हो सकती है। दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कमी देखना अच्छा है, पर अपनेमें कमी मानना ठीक नहीं।

मनकी चंचलता मिटाने की अपेक्षा बुद्धिकी चंचलता मिटाना आवश्यक है। आजकल मनकी तरफ ध्यान देते हैं, बुद्धिकी तरफ नहीं। बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने गीतामें मनकी स्थिरता की अपेक्षा बुद्धिकी स्थिरताको महत्त्व दिया है। बुद्धि ठीक होनेसे मन भी ठीक हो जायगा। बुद्धिमें एक परमात्मप्राप्तिका ही निश्चय हो।

संसार मनुष्यशरीरसे ही आरम्भ हुआ है और मनुष्यशरीरमें ही समाप्त हो सकता है। अभी समाप्तिका मौका है!

'गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास'—यह बुद्धिकी चंचलता है। परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय होना बुद्धिकी स्थिरता है। जबतक भोग और संग्रहकी आसक्ति है, तबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं हो सकती।

— — —

सर्वभावसे भगवान्‌का भजन करनेका तात्पर्य है कि मैं-पन बिलकुल न रहे। जैसे कन्या सर्वभावसे पतिकी हो जाती है, उसका गोत्र भी नहीं रहता, ऐसे ही सर्वभावसे भगवान्‌के हो जायँ। अपना कोई भी भाव अलग न रहे।

धनके द्वारा दूसरोंका उपकार कभी हुआ नहीं, हो सकता नहीं। जिसके भीतर धनकी आसक्ति है, वह उपकार नहीं कर सकता। वह परमात्माकी तरफ भी नहीं लग सकता। उपकार उदारतासे होता है, धनसे नहीं। कल्याण उदारतासे होता है। रुपयोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत रुपयोंके खर्च (त्याग)-का महत्त्व है। रुपयोंका खर्च उदार ही कर सकता है।

महिमा और निन्दा परिस्थिति, वस्तु आदिकी नहीं है। सदुपयोगकी महिमा है और दुरुपयोगकी निन्दा है—यह सार बात है।

जबतक हृदयमें भोग और संग्रहका महत्त्व बैठा है, तबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके भीतर नाशवान्‌का महत्त्व हो, वह अविनाशीको कैसे प्राप्त करेगा?

मूर्तिपूजा वास्तवमें भगवान्‌की पूजा है, मूर्तिकी पूजा नहीं। बढ़िया मकान बनाना, उसे सजाना पत्थरकी पूजा है। शरीरको सजाना हड्डीकी पूजा है।

कलियुग अच्छाईके चोलेमें बुराईका प्रचार करता है। अच्छाईके चोलेमें बुराई भयंकर होती है। उससे बचना बड़ा कठिन होता है।

मनुष्य दो खास काम हैं—देखे हुए संसारकी सेवा करना और सुने हुए भगवान्‌को याद करना। आपने आजतक जो निश्चय किया है कि ईश्वर ऐसा है—उसे याद करते रहो, नामजप करते रहो तो असली भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। दूसरेके द्वारा निश्चय किये गये रूपका, उसकी मान्यताका खण्डन मत करो। किसीकी निन्दा करोगे मो वह भगवान्‌की निन्दा होगी।

जीव और ईश्वर परस्पर सखा हैं—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**। प्रत्येक मनुष्य भगवान्‌का सखा है। भगवान् कहते हैं—***'सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें।।'*** (मानस, किष्किन्धा० 7। 5)। अतः आप चिन्ता छोड़ दें। चिन्ता हो जाय तो हे नाथ! हे नाथ! पुकारो।

— — —

चाहे जहाँ ममता नहीं है, उनकी सेवा कर दो; चाहे जिनकी सेवा करते हो, वहाँसे अपनी ममता हटा लो। ममता पुण्यको खा जाती है।

चाहे भगवान्‌के भजन, कीर्तन, ध्यान, जप, स्वाध्याय आदिमें लग जाओ, चाहे संसारका जो भी काम करो, भगवान्‌के लिये करो, स्वार्थका त्याग करके करो। किसी तरहसे भगवान्‌में लग जाओ।

स्वीकृति स्वयंमें होती है, चिन्तन मन-बुद्धिमें होता है। आप मानें या न मानें, स्वीकार करें या न करें, सब कुछ परमात्मा ही हैं।

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—काम तो इतना ही है।

— — —

विचार करें तो यह बात समझमें आती है कि संसारमें अपना कोई नहीं है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तथा मैं-पन भी अपना तथा अपने लिये नहीं है। इन्हें अपना और अपने लिये मानना ही बन्धन है। 'मैं' और 'मेरा' ही माया है। 'मैं' और 'मेरा' दोनों ही जगह भगवान् हैं। जीव स्वतः निर्मम और निरहंकार है। मैं-मेरापन बदलता है। जो बदलता है, वह सच्चा नहीं होता। सुषुप्तिमें मैं-मेरापनका भान नहीं होता, पर अपनी सत्ताका अनुभव होता है। आपकी सत्ता मैं-मेरेपरके अधीन नहीं है। मैं-मेरापना आपके अधीन है। वास्तवमें मैं और मेरा नहीं है, प्रत्युत तू और तेरा है!

भगवान्‌का होकर भगवान्‌को पुकारोगे तो माँकी तरह भगवान्‌को आना पड़ेगा। जैसे बालकको माँकी याद आती है, ऐसे भगवान्‌की याद आये। अपनेको शरीरसहित भगवान्‌का मान लो। वास्तवमें हम सदासे ही भगवान्‌के हैं। अतः भगवान्‌का होना नहीं है, केवल अपनी भूलका सुधार करना है कि मैं संसारका नहीं हूँ। आज ही विचार कर लो कि हम भगवान्‌के सिवाय किसीके नहीं हैं।

अपनेको भगवान्‌का मान लेनेके बाद परिवारसे आदरका, सेवाका, पूजाका बर्ताव होगा। परिवारमें ममता होनेसे बढ़िया बर्ताव नहीं होता।

कन्या पहले पतिकी न होने हुए भी पतिकी हो जाती है, आप भगवान्‌के होते हुए भगवान्‌के हो जाओ।

— — —

परमात्माकी प्राप्ति कठिन है ही नहीं। संसार तो निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। कामनका त्याग कठिन है तो क्या कामनाकी पूर्ति सुगम है? कामनाकी पूर्ति तो असम्भव है। सभी कामनाएँ आजतक किसीकी भी पूरी नहीं हुईं, पर कामनाओंका त्याग करके कई सन्त हो गये!

कामनाका त्याग करना है—यह विचार ही कामना छोड़नेमें कठिनता बताता है! वास्तवमें नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति करनी है। संसारका त्याग करना नहीं पड़ता। संसार पहलेसे ही व्यक्त है, केवल इस वास्तविकताको स्वीकार करना है।

यदि कामनाकी पूर्ति कामनाके अधीन है तो फिर सभी कामनाओंकी पूर्ति होनी चाहिये! अतः पूर्ति कामनाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधानके अधीन है। विधानकी पूर्ति बिना कामनाके भी होगी। इसलिये कामना करना केवल दुःख पाना हुआ। जिसको आप पकड़ना चाहते हो, वह छूट जाय तो आपकी फजीती ही होगी!

जो वस्तु समीप (प्राप्त) होती है, उसकी इच्छा बाधक (दूर करनेवाली) होती है। जो वस्तु दूर होती है, उसकी इच्छा साधक (समीप करनेवाली) होती है। अतः नित्यप्राप्त भगवान्‌की इच्छा भी बाधक है!

— — —

भयसे जिसका त्याग होता है, वह वास्तवमें छूटता नहीं है। वह छूटता है—विचार करनेसे। भयसे होनेवाला सुधार वास्तवमें सुधार नहीं है। विचार करनेसे सुधार होता है। भीतरकी दुर्भावना भयसे नहीं मिटती, प्रत्युत विचारसे, सत्संगसे मिटती है। विवेकका आदर करनेसे मनुष्य अपना सुधार कर सकता है। सत्संगके द्वारा बहुत जल्दी सुधार होता है—मेरा तो यही अनुभव है। सत्संगसे जीवन बदल सकता है, कायाकल्प हो जाता है।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीवन जहाना।।

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतना जहाँ जेहिं पाई।।

सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ।। (मानस, बाल० 3। 2-3)

भयसे तो मूर्खोंको ही थोड़ा लाभ होता है। मूर्खोंके सुधारके लिये दण्ड है, नरक हैं!

जो धन सदा साथ रहता है, वह कमाते नहीं और जो धन कमाते हैं, वह सदा साथ रहता नहीं। मैं प्रतिदिन इतने रुपये कमाऊँगा ही—यह नियम कोई नहीं ले सकता; क्योंकि यह प्रारब्धके अधीन है। परन्तु मैं प्रतिदिन इतना नामजप करूँगा—यह नियम सभी ले सकते हैं; क्योंकि यह हमारे अधीन है।

— — —

गीतामें खास शरणागतिकी बात है। जबजक अर्जुनने शरणागत होकर अपने कल्याणकी बात नहीं पूछी, तबतक गीतोपदेश आरम्भ नहीं हुआ। अतः शरण होनेसे ही गीता समझमें आती है। सर्वथा शरण हो जायँ तो बिना पढ़े गीता समझमें आ जायगी। जैसे पतिव्रता पतिकी हो जाती है, ऐसे ही भगवान्‌के हो जायँ। हम भगवान्‌के हो जायँ—यही 'स्वधर्म' है।

गीता व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धि बताती है। अपने लिये कुछ नहीं करना है—यह गीताकी शैली है। लौकिक-पारमार्थिक सभी कर्म दूसरेके लिये करने हैं। समाधि भी अपने लिये न हो। अपने लिये कर्म करना ही बन्धनका कारण है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार मैंने अभीतक यह समझा कि कल्याण भी अपने लिये नहीं करना है। करनेसे नाशवान् वस्तु मिलती है। नाशवान् वस्तुमें आसक्ति होनेके कारण 'सहज सुखाराशि' की अनुभूति नहीं होती। क्रियाके द्वारा संसारकी सेवा होगी, परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्मा शेष रह जायँगे।

समाधिसे व्युत्थान तभीतक होता है, जबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर सहज समाधि होती है।

जैसे कंजूस आदमी सोच-सोचकर पैसे खर्च करता है, ऐसे ही समय खर्च करनेमें कंजूस बन जाना चाहिये।

उन्नति धनसे नहीं होती, प्रत्युत स्वभाव शुद्ध बननेसे होती है।

— — —

भोगी व्यक्ति संसारसे वियोग (निद्रा) चाहते हैं, पर प्रेमी भक्त भगवान्‌से योग चाहते हैं।

एक सुगम उपाय है कि प्रतिदिन प्रातः सब गंगाजल लें। मृत्यु न जाने कब आ जाय! गंगाजल लेनेवाला नरकोंमें

नहीं जा सकता। नामजपसे भी बहुत रक्षा होती है। गोरखपुरमें प्रति बारह वर्ष प्लेग आया करता था। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-ने एक वर्षतक नामजप कराया तो फिर प्लेग नहीं आया। यात्राके लिये जाते समय 'नारायण' नामका चार बार उच्चारण करना चाहिये। प्रतिदिन माताके चरणोंमें मस्तक टेककर प्रणाम करे। बड़ोंको नित्य नमस्कार करनेसे आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।। (मनु० 2। 121)

प्रतिदिन कीर्तन करो, गीता-रामायणका पाठ करो।

— — —

जीवात्माके एक तरफ संसार है, एक तरफ परमात्मा हैं। संसार दीखता है, पर रहता नहीं। परमात्मा दीखते नहीं, पर रहते हैं। संसार हरदम बदलता है। इसमें बदलनेके सिवाय कुछ तथ्य नहीं है। संसारको देखनेवाले संसारी होते हैं, परमात्माको देखनेवाले महात्मा होते हैं। बदलनेवाले संसारसे मिलकर मुफ्तमें दु:ख पाते हैं! यह मूर्खता सत्संगसे मिटती है।

आपके पास लाखों रुपये हैं, पर आप उन्हें खर्च नहीं करते और मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं तो आपमें-मुझमें क्या फर्क हुआ? फर्क तो खर्च करनेमें है। सत्संगसे हम धनसे भी ऊँची चीज कमाते हैं, जिससे धन हमारा दास हो जाता है, हम मालिक!

— — —

किसीका नाश करनेके दो उपाय हैं—जीते हुएको मार देना और नये पैदा नहीं होने देना। वर्तमानमें गायोंका नाश कर रहे हैं और गौरक्षक हिन्दुओंके पैदा होनेमें (परिवार-नियोजनद्वारा) रोक लगा रहे हैं!

गायोंके रक्तादिसे बननेवाली दवाएँ खा-खाकर लोगोंके अन्त:करण अशुद्ध हो गये हैं, इसलिये उन्हें गायोंपर दया नहीं आती। ब्राह्मण तो कुपात्र हो सकता है, पर गाय नहीं। इस समय ब्राह्मणत्व और गायकी रक्षाकी बड़ी आवश्यकता है।

— — —

परमशान्ति बहुत सुगमतासे प्राप्त हो सकती है। जैसे गोद जानेपर, साधु होनेपर, विवाह होनेपर पहला सम्बन्ध छोड़कर नया सम्बन्ध मान लेते हैं, ऐसे ही आप मान लें कि हम संसारके नहीं हैं, परमात्माके हैं। सब काम करें, पर न्याययुक्त करें और भगवान्‌का समझकर करें। इस 'पंचामृत' का पालन करें—

1-हम भगवान्‌के ही हैं।

2-हम जहाँ भी रहते हैं, भगवान्‌के ही दरबारमें रहते हैं।

3-हम जो भी शुभ काम करते हैं, भगवान्‌का ही काम करते हैं।

4-शुद्ध-सात्त्विक जो भी पाते हैं, भगवान्‌का ही प्रमाद पाते हैं।

5-भगवान्‌के दिये प्रसादसे भगवान्‌के ही जनोंकी सेवा करते हैं।

बच्चोंको भगवान्‌का ही मान लो तो उनका स्वभाव शुद्ध हो जायगा। मेरा मानते ही वस्तु अशुद्ध हो जाती है। ग्रहण करनेपर शुद्ध वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है, और त्याग करनेपर अशुद्ध वस्तु भी शुद्ध हो जाती है। मिलने-बिछुड़नेवाली वस्तुको अपना मानना बेईमानी है। बेईमानी ही बन्धन है, ईमानदारी ही मुक्ति है।

— — —

शरीर माँ-बापसे मिला है। माँका हमपर जितना उपकार है, उतना अन्य किसीका नहीं है। माँ-बापका ऋण कोई उतार नहीं सकता। जो बहू पतिको सिखाकर माँके विरुद्ध कर देती है, वह बड़ा पाप करती है। जो माँके चित्तकी प्रसन्नता लेता है, उसका लोक-परलोकमें कहीं अहित नहीं होता। माँ-बाप सबसे बड़े तीर्थ हैं! माँके उपकारका बदला नहीं उतार सकते, पर उसे प्रसन्न करके कर्जा माफ करा सकते हैं।

बड़े-बूढ़ेके आनेपर उत्थान देना (खड़े हो जाना) चाहिये। कारण कि ऊँचे व्यक्ति आनेसे प्राण ऊँचे उठते हैं। यदि उनके आनेसे उठ जायँ तो प्राण ठीक जगह रहते हैं, न उठें तो प्राणशक्ति क्षीण होती है। परन्तु मैं अपने लिये उत्थान देनेको मान करता हूँ तो उत्थान न देनेपर आपकी प्राणशक्ति नष्ट नहीं होगी! वचनके आदरका अधिक महत्त्व है।

गरीब बच्चोंको मिठाई बाँटनेसे बड़ा लाभ होता है और शोक-चिन्ता मिटते हैं। इसमें इतनी शक्ति है कि आपका भाग्य बदल सकता है। कन्याओंको भोजन करानेसे शक्ति बहुत प्रसन्न होती है। शक्ति (देवी)-की उपासना करते समय पुरुषको स्त्रीपर कभी क्रोध नहीं करना चाहिये, नहीं तो स्त्रीका अनिष्ट हो जायगा!

बहनों-माताओंमें सेवाकी जो शक्ति है, वह पुरुषोंमें नहीं है।

भगवान्‌के मन्दिरमें किसीको भी प्रणाम करना अपराध माना गया है।

— — —

अपना सब कुछ भगवान्‌पर सौंप दे। अभिमानके कारण मनुष्य भारको अपने ऊपर ले लेता है। यदि भगवान्‌क समर्पित हो जाय, अन्यका सहारा न ले तो भगवान् योगक्षेम वहन करते हैं। मुझे कुछ नहीं चाहिये—ऐसा भाव होनेपर भगवान् अपने-आप आवश्यकताकी पूर्ति करते हैं। भगवान्‌के भरोसे जितना बढ़िया काम होगा, उतना अपनी बुद्धिके सहारे नहीं कर सकते। सन्त भगवान्‌के भरोसे चिन्ता नहीं करते, और जो चिन्ता करते हैं, वे सन्त नहीं होते। प्रारब्धका, भगवत्कृपाका तात्पर्य चिन्ता छुड़ानेमें है, काम छुड़ानेमें नहीं।,

भगवान्‌की तरफ चलते ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

श्रोता—घरका काम करते समय हम भगवान्‌को भूल जाते हैं!

स्वामीजी—आप घरका काम कभी करें ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌का काम करें! तात्पर्य है कि घरके कामको भगवान्‌का ही काम समझकर करे।

— — —

प्रकृतिमें स्थित न रहकर 'स्व' में स्थित रहे। प्रकृतिमें स्थित होनेसे सुख-दु:ख भोक्ता हो जायगा। यदि 'स्व' में स्थित हो जाय तो सुख-दु:खमें सम हो जायगा। जब मनुष्य अपनेको कभी शरीरके साथ, कभी नामके साथ, कभी वर्ण-आश्रमके साथ मिला लेता है, तभी वह सुखी-दु:खी होता है। अब 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इतना मानते ही काम ठीक हो जायगा! यह मान लें शरीर-कुटुम्ब आदि मैं नहीं, और मेरे नहीं।

आप जन्मनेवाले (शरीर) बनेंगे तो मरनेवाले भी बनना पड़ेगा। आप जन्मने-मरनेवाले नहीं हो—**'न जायते म्रियते वा कदाचित्'** (गीता 2। 20)। आप तो जन्मने-मरनेवालेको जाननेवाले हो। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, आप निरन्तर रहनेवाले हो। आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। आप नाशवान्‌के सम्मुख हो गये—यह परमात्मासे विमुख होना है। आज ही स्वीकार कर लो कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, मैं संसारका नहीं हूँ।' नाशवान् और अविनाशीका विभाग ही अलग है। 'मैं शरीर हूँ'—यह डोरी नहीं खोलोगे तो भले ही भजन-ध्यान करते रहो, रातभर नाव चलाते रहो, वहीं-के-वहीं रहोगे। हम शरीन नहीं हैं। हम भावशरीर हैं। भाव कभी बदलता नहीं।

कर्मयोगीका इष्टदेव संसार, ज्ञानीका इष्टदेव ब्रह्म और भक्तका इष्टदेव ईश्वर होता है। केवल संसारको सत्य माननेवाला कर्मयोगी होकर अपना कल्याण कर सकता है। पर कम-से-कम आप कहीं हो टिक जाओ! लेना ही बन्धन है और त्याग करना ही मुक्ति है। संसार, ब्रह्म, ईश्वर—किसी एकको सत्य मान लो तो तीनोंकी प्राप्ति हो जायगी। तात्पर्य है कि साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंमेंसे किसी एक योगमार्गपर चले तो एककी पूर्णता होनेपर तीनोंकी पूर्णता हो जायगी।

— — —

जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म होते हैं। कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं। मनुष्य कर्मोंका सुधार करना चाहता है, पर कर्ता सुधरेगा तो कर्म स्वतः सुधर जायँगे। मैं भोगी हूँ, मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ—यह कर्ताकी अशुद्धि है। यदि कर्तामें यह बात रहे कि मैं सत्संगी हूँ, मैं भक्त हूँ आदि, तो उसके द्वारा वैसे ही कर्म होने लगेंगे। यदि अहंता बदल जाय तो क्रियाएँ स्वतः बदल जायँगी। आपकी अहंतामें जो भाव है, वह भावशरीर है।

स्त्रीमें लज्जा स्वतः है। निर्लज्ज्ता सिखायी जाती है। लज्जा स्त्रीका भूषण है। लज्जाहीना स्त्री नष्ट हो जाती है—**'सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः'**।

अगर किसी वस्तुकी हमें जरूरत है तो हम साधु क्या हुए!

जैसे हमारा भाव, स्वभाव, स्वरूप है, वैसी ही हमारी निष्ठा है। मनुष्यकी जैसी अहंता होगी, वह वैसा ही हो जायगा। अगर साधन करना चाहते हो तो भीतरका भाव बदल दो। मैं-पनको बदलनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, पर क्रियाको बदलनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

मैं कपटी हूँ, मैं दोषी हूँ तो भी 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह भाव मुख्य रहना चाहिये। आगन्तुक स्वभावको असली मत मानें।

पक्का विचार होनेपर मनुष्य विचलित नहीं होता। विचलित तभी होता है, जब विचार पक्का न हो।

— — —

भोगी व्यक्ति दूसरको परमार्थिक शिक्षा नहीं दे सकता। त्यागी व्यक्ति ही त्याग सिखा सकता है। आप दूसरेको पतनसे तब बचायेंगे, जब खुदका पतन न हो। जो अपना उत्थान नहीं चाहता, उसका उत्थान दूसरा कैसे करेगा? पहले अपना उद्धार करो—**'उद्धारेदात्मनात्मानम्'** (गीता 6। 5)। धनियोंको खराब माननेवाले खुद धनी बनना चाहते हैं या निर्धन? अपने कर्तव्यका पालन करो। हमारा कर्तव्य दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये है।

— — —

कर्मयोगी दृष्टिसे संसार ही इष्टदेव है। भक्तिमें इष्टदेव भगवान् हैं। भक्ति बहुत सुगम एवं शीघ्र सिद्धिदायक है। ज्ञानमें इष्टदेव ब्रह्म है। भक्तिमें '**वासुदेवः सर्वम्**' (सब कुछ भगवान् ही हैं) की सिद्धिमें खास बाधा है—किसीको भी बुरा मानना। किसी भी प्राणीको बुरा मानना और उसकी बुराई करना, देखना, सुनना एवं बोलना—यह खास बाधा है। यह नियम ले लो कि 'किसीको भी बुरा नहीं समझेंगे' तो आप बुराईसे रहित हो जाओगे। कारण कि जो बुराई दीखती है, वह आगन्तुक है। स्वरूपसे कोई बुरा नहीं है। मुँहपर साबुना लगानेसे चेहना खराब दीखता है, पर वास्तवमें वैसा चेहरा है क्या? अतः वास्तवमें भीतरसे कोई बुरा नहीं है। दूसरी बात, कोई बुराई दीखे तो ऐसा समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा अवतार लेते हैं, वैसी ही लीला करते हैं।

आपको परमात्माकी प्राप्ति करनी हो तो दूसरेमें बुराई मत देखो। किसीको बुरा समझना उसका भी बुरा (पतन) करना है, अपना भी। 'सब जग ईस्वरूप है', दोष आपकी भावनामें है। अपना कल्याण चाहते हो तो किसीको भी दोषी मत मानो। न अपने (स्वरूप)-को दोषी मानो, न दूसरेको। साधक निर्दोषताका आदर करता है, दोषोंका नहीं।

हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, स्त्री, पुरुष आदि सब शरीर हैं। शरीरसे आगे हिन्दु, मुसलमान आदि कुछ नहीं है, प्रत्युत ईश्वरका अंश है। स्वयं ईश्वरका अंश है। स्वभाव कारणशरीरमें रहता है, स्वयंमें नहीं। बर्ताव शरीरके अनुसार करो, पर अपनेको शरीर न मानकर भगवान्‌का मानो। सत्संगी शरीर नहीं होता। शरीरको मत देखो, सत्संगीको देखो। मैं सत्संगी हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीर मुख्य है, स्थूलशरीर गौण है। टिकनेवालेको देखो, मिटनेवालेको मत देखो। मिटनेवाले (दोषों)-को देखोगे तो कल्याण कैसे होगा?

संसार परमात्माका स्वरूप है और मैं सेवक हूँ—यह भाव दृढ़ कर लो—'***मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत***' (मानस, किष्किंधा० 3)। सेवाके सिवाय किसीसे कुछ मतलब नहीं। सेवा वही करनी है, जो शास्त्रविरुद्ध नहीं हो, न्याययुक्त हो, धर्मयुक्त हो, और जिसे हम कर सकते हों। अपनेमें योग्यता हो और सेव्य न्याययुक्त सेवा चाहे। तात्पर्य है कि सेवा विवेक और सामर्थ्यके अनुसार हो।

भीतरमें सेवाका भाव हो। भाव असीम होता है। किसीका बुरा न चाहना बड़ी भारी सेवा है। पहली सेवा है—किसीका बुरा न चाहना, और दूसरी सेवा है—दूसरेको सुख पहुँचाना। दूसरके दुःखमें सहमत हो जाओ तो उसकी सेवा हो गयी!

सन्त किसीका भी बुरा नहीं चाहते। भगवान् रामने रावणको मार दिया, पर उसका बुरा नहीं किया—'***अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा***' (मानस, अयो० 183। 3)।

आप ईश्वरके अंश हो; अतः दूसरके प्रति जैसी भावना करोगे, वैसा ही दूसरा हो जायगा। भावनाका असर पड़ता है; जैसे—भोजनका भाव होनेसे मुखमें पानी आ जाता है!

— — —

भलाई स्वतःसिद्ध है, बुराई पकड़ी हुई है। साधकको भावका दूसरेपर असर पड़ता है। जितना सदाचारी, सद्‌गुणी साधक होगा, उतना ही उसका संकल्प सत्य होगा। असर उसपर पड़ेगा, जो अपनेको शरीर मानता है। कारण कि दोष शरीरमें आते हैं। आप शरीरसे असंग हो जाओ तो दूसरेकी बुरी भावना आपपर असर नहीं करेगी। आकर्षण सजातीयतामें होता है। आपमें दोष होगा तो दोषको पकड़ेगा। रामजी पर खर-दूषणादि कइयोंने बुरी भावना की, पर उनपर कोई असर पड़ा ही नहीं। अन्तःकरण अशुद्ध होगा तो अवगुणोंको जल्दी पकड़ेगा।

रुपया सबसे रद्दी चीज है। जो रुपयोंको बड़ा मानता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

— — —

सदुपयोग किया जाय तो सभी वस्तुएँ श्रेष्ठ हो जाती हैं, दुरुपयोग किया जाय तो सभी वस्तुएँ निकृष्ट हो जाती हैं। रुपयोंसे स्वतन्त्रता नहीं होती, प्रत्युत महान् परतन्त्रता होती है। कारण कि रुपये आपके अधीन हैं, आपके कमाये हुए हैं। रुपयोंसे आपकी प्रतिष्ठा नहीं है, प्रत्युत फजीति है। आपकी इज्जत जड़के अधीन नहीं है। आप लखपति-करोड़पति होनेमें अपनी इज्जत मानते हो तो यह इज्जत आपको निर्धनोंने दी है, धनवानोंने नहीं। किसी गाँवमें सभी लखपति हों, कोई निर्धन न हो तो क्या वहाँ लखपतिकी इज्जत होगी? इसी तरह मूर्खोंके कारण ही विद्वानकी इज्जत है। हाँ, फर्क यह है कि धनवान् तो दूसरोंको निर्धन बनाता है, पर विद्वान दूसरोंको मूर्ख नहीं बनाता!

आजकल न भगवान्‌का, न प्रारब्धका और न पुरुषार्थका भरोसा है, प्रत्युत झूठ-कपटका भरोसा है कि झूठ-कपटके बिना व्यापार नहीं चलता। झूठ-कपट इष्ट हो गये!

किसी व्यक्तिमें दोष मत देखो। दोष स्वभावमें होता है, व्यक्तिमें नहीं।

— — —

एकान्त-सेवन घी-दूधकी तरह है, जो स्वास्थ्यको भी बढ़ाता है और रोगको भी! यदि आपका मन भजन करनेका है तो एकान्तमें भजन बढ़ेगा। यदि आरामका मन है तो नींद बढ़िया आयेगी, और सांसारिक चिन्तन भी बढ़िया होगा!

आप खुद बड़े मत बनो। बड़े बनोगे तो अपनमें बड़ा (परमात्मा) दीखेगा नहीं। बड़े बननेसे ही माँका आदर नहीं करते। छोटे बने थे तो माँका आदर करते थे।

— — —

शरीरका होकर फिर अपनेको भगवान्‌का मानते हैं—यह गलती है। हम पहले भगवान्‌के हैं, शरीरके के पीछे। शरीरसे पहले हम भगवान्‌के हैं। हम तो पहलेसे ही भगवान्‌के थे, हैं और रहेंगे। हम किसी भी योनिमें जायँ, भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध अखण्ड है। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, साधु आदि स्वाँग तो पीछे धारण किये हैं। हम स्वाँगके नहीं हैं। हम भगवान्‌के हैं—यह नया सम्बन्ध नहीं जुड़ा है, प्रत्युत भूल मिटी है। दुर्गुण-दुराचार हमारे साथी नहीं हैं। कपूत भी पूत तो है ही!

भगवान्‌की सामर्थ्य नहीं कि आपको अपनेसे अलग कर सकें! अपने-आपको अपने-आपसे दूर कैसे करेंगे? हम भगवान्‌से कभी अलग थे नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं, हो सकते नहीं।

— — —

सभी शास्त्र अज्ञानियोंके लिये हैं। तत्त्वज्ञानीके लिये कोई शास्त्र नहीं है। तत्त्वज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव नहीं होता है कि मैं पहले अज्ञानी था, अब ज्ञान हो गया। यदि ऐसा अनुभव होगा तो पुनः अज्ञान हो जायगा! गुरु नया ज्ञान नहीं देता, केवल भूल मिटाता है, मानो गायका घी ही गायको देता है।

असली गुरु चेला नहीं बनाते, गुरु ही बनाते हैं। अपने साधनका आग्रह होनेपर बाधा लगती है, प्रेम होनेपर बाधा नहीं लगती। अपना आग्रह न हो तो भक्तिकी बात सुननेसे ज्ञानमार्गी गद्‌गद हो जायगा, और ज्ञानकी बात भक्तिमार्गी सुगमतासे समझ लेगा। सत्संगका आग्रह होगा तो सत्संगमें बाधा देनेवालेके प्रति क्रोध, द्वेष होगा, और सत्संगका प्रेम

होगा तो बाधा लगनेपर रोना आयेगा। अपने साधनमें प्रेमपूर्वक दृढ़ता होनी चाहिये, आग्रहपूर्वक दृढ़ता नहीं।

— — —

भगवत्प्राप्ति मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है।

‘**वासुदेवः सर्वम्**’—सब कुछ भगवान् ही हैं तो उपदेश किसको दें? चेला किसको बनायें? इसलिये उपदेश अपने लिये ही है, दूसरोंके लिये नहीं—‘**उद्धरेदात्मनात्मानम्**’ (गीता 6। 5)। हमें ‘**वासुदेवः सर्वम्**’ का अनुभव करना है, कोरा सीखना नहीं है।

— — —

अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये—‘**उद्धरेदात्मनात्मानम्**’ (गीता 6। 5)। गुरु हमारा उद्धार नहीं करेगा। गुरुको हम मानेंगे, तभी तो उसकी बात मानेंगे। क्या गुरुमें यह ताकत है कि किसीको अपना चेला बना ले? चेला खुद ही बनेगा। ‘**आत्मैव रिपुरात्मनः**’ (गीता 6। 5) ‘आप ही अपना शत्रु है’—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि कभी किसीको अपना शत्रु न माने। शत्रु-मित्र अपने ही बनाये हुए हैं। भगवान्‌के राज्यमें, भगवान्‌के रहते हुए दूसरा हमें दुःख दे दे, ऐसा हो ही नहीं सकता। कोई आपका कितना ही अनिष्ट करे, वह आपका शत्रु नहीं है। वह तो आपके पापोंका नाश करता है और आपकी उन्नति करता है। वास्तवमें हमारा अहित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

श्रोता— भगवान् सबका कल्याण क्यों नहीं कर देते?

स्वामीजी— जगत् भगवान्‌की दृष्टिमें भी नहीं है और महात्माकी दृष्टिमें भी नहीं है। फिर भगवान् किसका उद्धार करें, किसका पतन? भगवान्‌की दृष्टिमें उनके सिवाय कुछ नहीं है—‘**मया ततमिदं सर्वम्**’ (गीता 9। 4)। अतः ‘भगवान् सबका कल्याण क्यों नहीं करते? यह प्रश्न बनता ही नहीं!

भगवान् कैसे हैं? उनका क्या स्वभाव है? यह हम जान नहीं सकते, केवल अपनी बुद्धिसे अटकल लगाते हैं। भगवान् हमारे-जैसे नहीं है। जीव खुद दुःख चाहता है, दुःख मोल लेता है, फिर भगवान् उसका उद्धार कैसे करें?

अपने सुखको रेतमें मिला दें तो आनन्दकी खेती होगी! सुखकी इच्छा छोड़ दें तो आनन्द मिलेगा। सुखकी इच्छा ही पतनका कारण है।

— — —

गीताको मूल देखनेसे जो अर्थ समझमें आता है, वह टीका देखनेपर नहीं आता। टीका अपनी दृष्टिसे, सम्प्रदायके अनुसार लिखी जाती है। गीता दर्पणकी तरह है। आप मूल गीतापर विचार करें, टीकापर नहीं। ***‘निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ’*** (मानस, उत्तर० 73 ख)। सतीजी, नारद, गरुड़ आदिको भी भ्रम हो गया! सगुणपर विश्वास कठिन है; क्योंकि विश्वास नाशवान् वस्तुओंपर खर्च कर दिया! ‘**वासुदेवः सर्वम्**’ कठिन नहीं है, विश्वास कठिन है। गोपियाँ, ग्वाल-बाल, खग, मृग, राक्षस आदि भी भक्त हो गये, पर ज्ञानी कितने हो गये? ज्ञानमार्गको गीतामें जितना कठिन बताया है, उतना कठिन भी मैं नहीं मानता।

क्या नाशवान् विश्वासके योग्य है? जो रहनेवाला नहीं है, वह क्या विश्वासके योग्य है? फिर भी उसपर विश्वास करते हैं—यही कठिनता करे कौन? जैसे अंग्रेजी सीखनी हो तो शिक्षक जो कहे, उसकी हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ेगी, ऐसे ही सगुणको जाननेके लिये हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ेगी—विश्वास करना पड़ेगा। भक्ति तर्कसे सिद्ध नहीं होती। भक्ति

होगी तो ज्ञान और वैराग्य—दोनों स्वत: आ जायँगे। भक्तिमें त्याग-वैराग्यकी जरूरत नहीं है, केवल मान लें कि भगवान् मेरे हैं तो प्राप्ति हो जायगी—***'बिनु बिस्वास भगति नहिं'*** (मानस, उत्तर० 90 क)। विश्वासका उपाय है—विश्वासी सन्तोंका संग करो, उनकी वाणी पढ़ो।

— — —

कल्याण तो स्वाभाविक है, पर लोगोंने इसे हौआ बना दिया है! मुक्तिमें मनुष्यमात्रमें जानने, करने और माननेकी शक्ति है।

स्वरूपका बोध होनेपर ब्रह्मका ज्ञान हो जायगा, पर ईश्वरका ज्ञान नहीं होगा। जो ईश्वरको नहीं जान सके, उन्होंने ईश्वरको कल्पित मान लिया! तत्त्वज्ञान होनेपर भी प्रेम शेष रह जायगा। वह प्रेम ईश्वरकी कृपासे होगा। बढ़ने-घटनेवाली चीज तो जड़ होती है, पर प्रेम तो बढ़ता-ही-बढ़ता रहता है!

संसार है ही नहीं—यही संसारको जानना है। बहनेका प्रवाह ही संसार है। जैसे गंगाजी कलकी जगह ही बह रही है, ऐसे ही शरीर अपनी जगह बह रहा है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधिसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति जड़के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है। श्रवण, मनन आदि (अभ्यास)-में जड़की सहायता लेनी ही पड़ती है।

भगवान्‌की बात तत्त्वज्ञानसे विलक्षण है—***'तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।।'*** (मानस, अयोध्या० 127।2)। भगवान् मिलें तो भेड़-बकरी चरानेवालेको मिल जायँ, अन्यथा षट्शास्त्रोंके पण्डितको भी नहीं मिले! विश्वास हो तो उनकी प्राप्ति बहुत सुगम है। नाशवान्‌में विश्वास होनेसे ही कठिनता है।

— — —

जो संसारसे डरे हुए हैं, उन्हें 'अजातवाद' कहना पड़ता है कि संसार है ही नहीं। परन्तु जो संसारसे डरे हुए नहीं हैं, उन्हें कहते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। भयभीतको कहना पड़ता है कि साँप नहीं है, रस्सी है, अन्यथा यही कहते हैं कि रस्सी है।

वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं होता, यदि हो जाय तो वह पागल हो जायगा! इसलिये 'शक्तिपात' पात्रमें किया जाता है।

— — —

मान्यता भक्तिमार्गमें चलती है। ज्ञानमार्गमें मान्यता नहीं चलती। ज्ञानमार्गमें जानना होता है। माननेसे ज्ञानमार्गमें भ्रम हो जाता है और साधक अधूरे ज्ञानको ज्ञान मान लेता है।

— — —

मनुष्यका सुधार होता है अपने प्रति न्याय करनेसे, न कि क्षमा करनेसे। सुधार अपना करना है। हमपर अपने सुधारका दायित्व है, दूसरेके सुधारका नहीं—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता 6।5)।

अच्छा काम जल्दी कर लेना चाहिये, नहीं तो उसे काल खा जायगा। अवगुणका पता लगते ही उसे दूर करना चाहिये।

— — —

भगवान्‌की कृपासे अपने उद्धारका यह बड़ा सुन्दर अवसर आया है। अत: हिम्मत रखें कि हम सभीका कल्याण हो सकता है। कार्यके आरम्भमें, अन्तमें, सोते समय और जागते समय—इन चारों समय यह विचार करें कि मैंने ठीक किया या बेठीक किया? गलती की तो क्यों की? साधन करनेवालेसे कोई गलती होती है तो वह अधिक सावधान होता है। पक्का विचार कर लो कि अब यह गलती नहीं होगी। परमात्माका अंश भी सत्य-संकल्प है।

भगवान्‌के दरबारमें अनन्त बातें हैं। आपकी लगन होगी तो कहीं-न-कहींसे आपको बात मिल जायगी; पुस्तकसे मिल जायगी अथवा बालक आदिसे भी मिल जायगी। आप जिस मार्गके अधिकारी हैं, उसी मार्गका सिद्ध पुरुष आपको मिल जायगा।

— — —

तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान होनेके बाद प्रेम (परमात्मज्ञान)-का अधिकारी होता है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।। (1। 7। 10)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जड़ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।

ब्रह्म भगवान्‌की आभा है। सबका पालन करनेकी शक्ति ईश्वरमें है, ब्रह्ममें नहीं। ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर पूर्णता हो जायगी, पर परमप्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) पहले ब्रह्मवादी थे। भगवान्‌ने उन्हें अपनी मरजीसे दर्शन दिये। सेठजी चुरूमें थे और ज्वर होनेके कारण चादर ओढ़े लेटे हुए थे। उस समय उन्हें चतुर्भुजभगवान्‌के दर्शन हुए। भगवान् प्रकट होते हैं तो उन्हें कोई आवरण, दीवार आदि ढक नहीं सकते। सेठजीको रोमांच, अश्रुपात हुआ। उनके भीतर यह भाव पैदा हुआ कि भगवान् यह कहना चाहते हैं कि निष्कामभावका प्रचार करो। तब वे ब्रह्मवादीसे ईश्वरवादी बन गये। परन्तु वे युगल उपासनाका उपदेश नहीं करते थे। सत्यभाषणमें सेठजी बहुत प्रसिद्ध थे।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-को भी भगवान्‌के दर्शन हुए थे। उन्हें जो बातें भगवान्‌ने कहीं, वे 'दिव्य सन्देश' नामसे छपीं। उन्हें नामजपके प्रचारका आदेश हुआ था। सेठजी और भाईजी परस्पर मौसेरे भाई थे (दोनोंकी माँ परस्पर बहनें थीं)।

भगवान्‌से भी कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत देना है। रसके भोगी न बनकर रसके दाता होना है।

— — —

कर्मयोगमें मन नहीं लगाना पड़ता, प्रत्युत कामनाओंका त्याग होनेपर मनका भी त्याग हो जाता है। कर्मयोगीका इष्ट संसार होता है। यह भौतिक साधना है। कर्मयोगीका सब कुछ संसारकी सेवामें लग जाता है।

मन स्थिर होनेपर कामनाएँ नहीं मिटतीं।

कर्मयोगी और भक्त योगभ्रष्ट नहीं होते। योगभ्रष्ट होता है ध्यानयोगी। कारण कि श्रवण-मनन, ध्यान आदिमें मन

साथमें रहता है। मन साथमें रहनेसे ही साधक योगभ्रष्ट होता है। कर्मयोगमें 'करण' कर्मके साथ है, योगके साथ नहीं। कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन है। संसारके हितमें लगनेसे कर्मयोगीको मन सम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत मन अपने-आप सम (राग-द्वेषरहित) हो जाता है।

जो किसी वस्तु-व्यक्तिसे सुख चाहता है, उसको चाहे भोगी कह दो, चाहे पापी कह दो। जो केवल लेता है, वह जड़ है। जो देता है, वह चेतन है। जो लेता-देता है, वह चिज्ज्ड़ग्रन्थि है।

— — —

जो भी होता है, वह भगवान्‌का विधान है। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई विधान कर सकता ही नहीं। भगवान्‌के विधानमें प्रसन्न रहे और भगवान्, शास्त्र तथा सन्तकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य न करें। करनेमें सावधान तथा होनेमें प्रसन्न रहें। इससे मुक्ति, तत्त्वज्ञान सब कुछ हो जायगा। यह सार बात है।

जिस कामको ठीक नहीं जानते, वह काम मत करो। जाने हुए असत्‌का त्याग करना है। जाने हुए असत्‌का त्याग करनेसे पूरा त्याग हो जायगा।

— — —

दूसरोंसे सुख पानेकी जितनी इच्छा है, उतनी ही जड़ता है। वस्तु-व्यक्तिसे सुख लेना महान् जड़ता है, फिर चिन्मयता कैसे समझमें आयेगी? यह वृत्ति स्वत: रहे कि दूसरोंको सुख कैसे मिले, तो चिन्मयताका अनुभव हो जायगा। हमें किसीसे सुख नहीं लेना है—यह बात जल्दी समझमें नहीं आती, पर दूसरोंको सुख कैसे हो—यह समझना सुगम है। इसमें भी ऊँची बात है कि मेरे द्वारा किसीको भी दु:ख न हो। किसीको दु:ख न पहुँचे—ऐसा भाव करनेमें न कोई खर्चा है, न परिश्रम। किसीका भी अनिष्ट नहीं चाहे—इसकी बड़ी भारी महिमा है! भीतरमें यह भाव हो कि यह व्यक्ति पापसे बच जाय, बुरा आचरण न करे तो यह उसकी बड़ी भारी गुप्त सेवा हो गयी! कारण कि इससे आप उसके हितैषी हो गये—'**सर्वभूतहिते रता:**' (गीता 5। 25; 12। 4)। इससे आपका भी हित होगा, उसका भी।

त्याग करनेसे आपकी उन्नति होती है और वस्तु शुद्ध हो जाती है। ग्रहण करनेसे आपका पतन होता है और वस्तु अशुद्ध हो जाती है।

जड़ वस्तुओंसे सुख चाहना, उनसे सुख लेना पाप है।

— — —

जैसे यहाँसे हम कहीं जायँ तो इस स्थानका त्याग हो जायगा, ऐसे ही भगवान्‌की तरफ चलनेपर यहाँके रागका त्याग हो जायगा। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंमें संसारकी आसक्ति छूट जायगी। भोग और संग्रहका त्याग करना ही पड़ेगा।

जबतक असत्‌की सत्ता मानी है और सत्ता देकर महत्ता मानी है, तबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी।

त्यागका अभिमान वास्तवमें त्याज्य वस्तुकी ही महत्ता है।

— — —

संसारमें जन्म-मरण कर्मफलके कारण ही है। कर्मोंका फल है—जन्म, आयु और भोग। कर्मफलसे रहित होनेपर

जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहेगा। यदि कर्मफलकी इच्छका ही त्याग कर दें तो शान्तिके सिवाय और क्या मिलेगा? **'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्'** (गीता 5। 12)।

जन्म-मरणसे रहित स्थिति (मुक्ति) क्रियासाध्य नहीं है—यह मूल बात है। मुक्ति पैदा नहीं होती, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है। धन-सम्पत्तिकी तरह मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

वास्तवमें अशान्ति है नहीं। संसारके सम्बन्धसे ही अशान्ति है।

पदार्थ और क्रिया प्रकृतिसे पैदा होते हैं। प्रकृतिसे अतीत न पदार्थ है, न क्रिया।

— — —

हम हृदयसे गंगा-स्नान करना चाहते हैं, पर प्रारब्धके अनुसार बुखार आनेसे हम स्नान नहीं कर सके तो बिना स्नान किये भी स्नानका माहात्म्य हो जायगा!

प्रारब्ध नया कर्म (पाप या पुण्य) नहीं करता। प्रारब्ध और क्रियमाणमें परस्पर विरोध नहीं है। दुःखी करना प्रारब्धका फल नहीं है, तभी जीवन्मुक्ति होनेपर प्रारब्ध तो रहता है, पर दुःख नहीं रहता।

जबतक ब्रह्मज्ञान न हो, तबतक ब्राह्मणको अपनेको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये।

— — —

जो कुछ भी काम करें, भगवान्का पूजन मानकर करें और हरेक भाई-बहन अपनेको भगवान्का पुजारी समझे—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (गीता 18। 46)। जगत्को ईश्वररूप समझें तो किसीमें दोष-दर्शन न करें। अपने इष्टको बुरा न समझें। ऐसा भाव रखें कि भगवान् अभी कलियुगकी लीला करते हैं। वे जिस रूपमें आते हैं, उसी रूपके अनुसार लीला करते हैं; जैसे—नृसिंह रूपमें आकर वे प्रह्लादजीको चाटते हैं! दूसरी बात, सभी जीव भगवान्के अंश होनेसे निर्दोष हैं। मूलमें कोई बुरा है ही नहीं। बुराई ऊपरसे आयी हुई है। अतः किसीका बुरा न करना है, न चाहना है, न समझना है। किसीका बुरा न करना, न चाहना, न समझना भगवान्की पूजा है।

आप भलाईको पसन्द करोगे, बुराईको पसन्द नहीं करोगे तो आपकी बुराई मिट जायगी। बुराईका आरम्भ और अन्त होता है, पर भलाईका अन्त नहीं होता। बुराई आगन्तुक है, पर भलाई आगन्तुक नहीं है।

कोई गलती करता हुआ दीखे तो उसे भगवत्स्वरूप मानते हुए मन-ही-मन भगवान्से कहो कि 'हे नाथ! आप ऐसा न करते तो अच्छा था'। यह उसकी गुप्त सेवा हो गयी। इसका उसपर स्वतः असर पड़ेगा।

दोषदृष्टि करना खराब है, दोष दीखना खराब नहीं। हमें दोषदृष्टि न करके अपना कल्याण करना है। हमें तो भगवान्को देखना है। ऊपरकी चोली देखकर राग-द्वेष नहीं करना है। ऊपरी चोली देखना मनुष्यबुद्धि नहीं है, प्रत्युत पशुबद्धि है—**'पशुबुद्धिमिमां जहि'** (श्रीमद्भा० 12। 5। 2)। बबूल (काँटेवाले वृक्ष) की छायामें काँटे नहीं होते! जैसे व्यापारीकी दृष्टि सदा पैसोंकी तरफ ही रहती है, ऐसे ही हमारी दृष्टि भी सदा भगवान्की तरफ रहनी चाहिये।

— — —

स्वभाव बिगड़ा है, तत्त्व नहीं। स्वरूप सभीका शुद्ध है। परा-अपरा दोनों भगवान्की प्रकृतियाँ हैं। जगत् केवल परा प्रकृतिने धारण कर रखा है। महात्मा और परमात्माकी दृष्टिमें जगत् नहीं है।

परिवर्तन 'मैं' में होता है, 'हूँ' (सत्ता)-मैं नहीं। जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह क्या रहेगा? 'मैं शरीर हूँ' तो क्या शरीर रहेगा? 'मैं' असत् है। उसकी सत्ता नहीं है—'नासतो विद्यते भाव:' (गीता 2। 16)। शरीर आपसे निरन्तर असंग हो रहा है, केवल आप इससे असंग हो जायँ। इसका साधन है—अनुकूलतामें राजी न हों और प्रतिकूलतामें नाराज न हों।

संसारके साथ जितना सम्बन्ध है, वह सब माना हुआ है। माना हुआ सम्बन्ध न माननेसे मिटेगा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधिसे नहीं मिटेगा। शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे सब कुछ चाहिये, पर सम्बन्ध न जोड़ो तो क्या चाहिये?

माता-पिता आदिकी सेवा करनेसे सम्बन्ध जुड़ता नहीं, प्रत्युत टूटता है। सम्बन्ध जुड़ता है—आशासे, उनसे कुछ चाहनेसे। सारी आफत लेनेकी इच्छासे आती है। इच्छा रखनेसे वस्तु कठिनतासे मिलती है, और इच्छा न रखनेसे वस्तु सुगमतासे मिलती है। जो लेना नहीं चाहता, उसे सब देना चाहते हैं।

— — —

कोई भी कारक तत्त्वज्ञानतक नहीं पहुँचता। कारक 'प्रकृति' है। जो प्रकृतिसे अतीत है, उसके बोधमें कारण क्या करेगा? परमात्मतत्त्वके बोधमें करण, कर्ताका प्रयोग नहीं है।

प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे प्राप्त है। त्याग उसीका होता है, जो सदासे अलग है।

आलकल वेदान्ती आवरणदोष दूर करनेकी जितनी चेष्टा करते हैं, उतनी मलदोष दूर करनेकी नहीं। वास्तवमें आपकी जिम्मेवारी मलदोष दूर करनेकी ही है। साधको मलदोष ही दूर करना है। वेदान्तकी पढ़ाई इदंतासे होती है और गीताकी पढ़ाई अहंतासे होती है। वेदान्तसे पण्डिताई आती है।

जिसको आप खराब, बेठीक, अन्याय, पाप समझते हो, उसे करते हो—यही सबसे बड़ी बाध है। जाने हुए असत्का त्याग कर दो तो तत्त्वज्ञान हो जायगा। त्यागका अर्थ है—उस वस्तुका महत्त्व न हो। जो आपको प्राप्त है, उसीसे निर्वाह करो तो बढ़िया निर्वाह हो जायगा और आपका जीवन पवित्र हो जायगा।

— — —

भगवान्‌ने गीतामें कामनाके त्यागपर जोर दिया है। भगवान् तथा सन्त-महापुरुष वही बात करते हैं, जो हम कर सकते हैं। हमारी कोई कामना पूरी होती है, कोई पूरी नहीं होती। अत: कामना-पूर्तिका सम्बन्ध कामनाके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके साथ है। जिस वस्तुकी कामना हो, उसकी पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। कामनाके होते हुए हम सिद्धि-असिद्धिमें सम नहीं रह सकते।

यदि शरीरको अपना न मानें तो कोई कामना नहीं होती। स्वरूपमें कामना नहीं है, क्योंकि वह 'सहज सुखराशि' है। कामना होती है शरीरको अपना माननेसे। शरीरपर हमारा आधिपत्य नहीं चलता, फिर वह हमारा कैसे हुआ? शरीर वही (पहले-जैसा) नहीं रहा, पर आप स्वयं वही हो। शरीर निरन्तर आपसे अलग हो रहा है। शरीरका संग अस्वीकार करनेसे छूटेगा, अभ्याससे नहीं।

कामना-ममताको रखना असम्भव है, छोड़ना कठिन है—ऐसा मानें तो भी असम्भवकी अपेक्षा कठिन सुगम ही हुआ! यदि कामना-ममता करनेमें अथवा छोड़नेमें आप समर्थ, स्वतन्त्र न हों तो फिर कोई त्यागी, विरक्त, साधु हो सकता ही नहीं।

— — —

शरीर छोटा है, पर आप छोटे नहीं हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड आपके अन्तर्गत हैं। परन्तु शरीरमें मैं-मेरा करनेके कारण आप अपनेको शरीरके भीतर मान लेते हैं। त्रिलोकीके सभी शरीर नाशवान् हैं—'**अन्तवन्त इमे देहाः**' (गीता 2। 18), पर स्वरूप अविनाशी है—'**अविनाशि तु तद्विद्धि**' (गीता 2। 17)। इस अविनाशी स्वरूपसे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है—'**येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता 2। 17)। परन्तु इस स्वरूपको आप एक शरीरके अन्तर्गत मानते हैं! पांचभौतिक सृष्टिमात्र छोटी है। आपकी उस परमात्माके साथ एकता है, जिसके रोम-रोममें ब्रह्माण्ड हैं! आप शरीरसे अपना सम्बन्ध मानते हो, इसलिये भगवान् उसी भाषासे बोलते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता 15। 7) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है'। प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे आप अंश हो गये। सुषुप्तिमें क्या आप अपनेको एक अंशमें देखते हो? ब्रह्माण्ड भी एकदेशीय है, पर आप एकदेशीय नहीं हो, प्रत्युत अनन्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त हो—'**येन सर्वमिदं ततम्**'।

यदि चिन्ता-शोक होते हैं तो आपने बातें सीखी है, जानी नहीं है। शरीरमें होनेवाली हलचल, चिन्ता, शोकको आपने अपनेमें मान लिया। चिन्ता-शोक आते-जाते हैं, आप आते-जाते नहीं है। अत: चिन्ता-शोक आपमें नहीं हैं।

शरीर तो प्रतिक्षण आपका त्याग कर रहा है। आप ही उससे लिप्त होते हो।

— — —

कामनाका जन्म खुदसे होता है। वह कामना मनमें आती है—'मनोगतान्' (गीता 2। 55)। कामना मनका धर्म नहीं है। काम स्वयं ('मैं हूँ')-में रहता है, वही मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें आता है।

जबतक बोध नहीं होगा, तबतक दर्द भी होगा, दु:ख भी होगा। परन्तु बोध होनेपर दर्दका ज्ञान तो होगा, पर दु:ख नहीं होगा।

दूसरेके दु:खसे दु:खी होना ज्ञानीके लक्षणोंमें नहीं है, प्रत्युत भक्तके लक्षणोंमें है—'**मैत्रः करुण एव च**' (गीता 12। 13)।

— — —

मनुष्यशरीरको दुर्लभ बतानेका तात्पर्य यह नहीं है कि इसे अपना मानो, प्रत्युत इसमें है कि इससे लाभ उठा लो। शरीर मेरा है तो सेवा करनेके लिये मेरा है, लेनेके लिये मेरा नहीं है। लेनेसे ऋण चढ़ेगा। ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं होती।

— — —

आप क्षेत्र नहीं हो, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाले 'क्षेत्रज्ञ' हो। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'इदम्' के अन्तर्गत हैं, और उसे जाननेवाला 'क्षेत्रज्ञ' है। जाननेवाला व्यापक होता है। 'अहम्' भी इदंताके अन्तर्गत है। 'अहम्' ('मैं') भी जाननेमें आता है, आपका स्वरूप नहीं है। 'अहम्' से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही तत्त्वज्ञान है।

— — —

सीखी हुई बातसे अनुभव नहीं होता। क्या ब्रह्ममें '**अहं ब्रह्मास्मि**' है? मैं ब्रह्म हूँ—यह उपासना है, पर इससे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी—ऐसा मैं नहीं मानता।

गीताको मैं अपार-असीम-अनन्त मानता हूँ। गीतापर मैं जो बोलता हूँ, वह अपनी बुद्धिका परिचय देता हूँ। ***'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई।।'*** (मानस, बाल० 13। 1), इसलिये मैं भी कह देता हूँ!

विहितमें कमी होनेसे बाधा नहीं लगेगी, पर निषिद्ध कर्म जबतक होंगे, तबतक साधन सिद्ध नहीं होगा, तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी।

साधन और असाधन—ये दोनों मनुष्यमात्रमें है। जबतक आपमें असाधन है, तबतक आप साधक कैसे हुए? साधकके द्वारा भूलसे भी असाधन नहीं होता।

साधनमें सन्तोष करना परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत बड़ी बाधा है।

— — —

भगवान् जीवको दास नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत दोस्त बनाना चाहते हैं! अपना पूजनीय बनाना चाहते हैं! भगवान् बड़े-से-बड़ेकी भी आखिरी हद हैं और छोटे-से-छोटेकी भी आखिरी हद हैं!

— — —

पारमार्थिक सिद्धि लौकिक सिद्धि-जैसी नहीं है; क्योंकि परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों मौजूद है। उसका निर्माण नहीं करना है। केवल उधर दृष्टि करनी है। इसमें कोई उद्योग या परिश्रम नहीं है। बलका प्रयोग निर्बलपर होता है, जबकि परमात्मतत्त्व सबसे प्रबल है। योग्यतासे अयोग्यपर अधिकार होता है। जिसे प्राप्त करना है, वह परमात्मतत्त्व एक क्षण भी अप्राप्त नहीं होता।

लोकालोक पर्वत जितना दूर है, उतना ही शरीर आपसे दूर है। परमात्मा नजदीक-से-नजदीक हैं। शरीर नजदीक दीखता है, परमात्मा दूर—यही अज्ञान है। संसारमात्र आपके किसी अंशमें हैं। आपका स्वरूप सत्तामात्र ('है') है। अन्य शरीरोंमें सत्ता नहीं जाती, आपकी मान्यता जाती है।

मायाके किसी अंशमें सृष्टि है, और वह माया परमात्माके किसी अंशमें है।

— — —

शरीर मैं हूँ, मेरा है, मेरे लिये है—यह जबतक रहेगा, तबतक साधन शुरू नहीं होगा। यह नियम है कि एक भी विकार होगा तो सभी विकार आ जायँगे। जायँगे तो सभी विकार जायँगे। जबतक देहाभिमान रहता है, तबतक आसुरी सम्पत्ति रहती है। अतः देहाभिमानको मिटायें। देहके साथ सम्बन्ध अविवेकसे है। देहाभिमान विवेक-विरोधी सम्बन्धा है। जो वास्तवमें गुणातीत होता है, वही गुणातीत होता है।

आप शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिके साथ न रहें, प्रत्युत 'अकेले' रहें। आपका स्वरूप सत्तामात्र है। इसका अनुभव करें, सीखे नहीं। अनुभव करनेसे शरीरके मान-अपमान, आदर-निरादर आदिका आपपर असर नहीं पड़ेगा। अपनेमें '***चेतन अमल सहज सुख रासी***' का भी आरोप मत करो। निषेधमुखसे अनुभव करो कि शरीर मैं नहीं हूँ। स्वयंके द्वारा ही स्वयंका अनुभव होगा। अनुभव होनेसे शुभ कर्ममें तो आसक्ति नहीं होगी और अशुभ कर्म होगा ही नहीं। न मानका असर होगा, न आदरका। अनुभव हुए बिना चैन नहीं पड़ना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्न-जल छोड़ दो। इसका तात्पर्य बेचैन होनेमें है, लगन होनेमें है। खास बात लगनकी है। लगनके बिना भूखे मर जाओ तो भी कुछ नहीं होगा।

— — —

मिलनेवाली वस्तु कामना न करनेसे भी मिलती है। ममता करनेसे वस्तु भी बँधती है, हम भी बँधते हैं। जो अवश्य छूटेगा, उसे मनसे छोड़ दें। वस्तुका संयोग होते ही वियोग शुरू हो जाता है। वस्तुको अपनी माननेसे हम फँसते हैं, पर भगवान्‌की माननेसे नहीं फँसते। भगवान्‌की माननेसे वह वस्तु प्रसाद हो जाती है! यदि सब वस्तुओंको भगवान्‌की मान लें तो पाप टिक नहीं सकता। वस्तुको भगवान्‌की माननेसे प्रसन्नता होगी, भगवान्‌को याद रखनेमें सहायता मिलेगी। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भगवान्‌की नहीं है?

'सभी भगवान् हैं'—इसकी अपेक्षा 'सभी भगवान्‌के हैं'—यह मानना सुगम है।

— — —

भगवत्प्राप्तिके ऐसे अनेक मार्ग हैं, जिनका अभीतक आविष्कार नहीं हुआ है। प्रत्येक भाई-बहनके भीतर यह बात जँची हुई है कि जो होगा, अभ्याससे होगा। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, जबकि परमात्मतत्त्व स्थितिगतिसे रहित है। समाधिमें भी कारणशरीरमें स्थिति होती है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। परमात्मतत्त्वमें दो अवस्थाएँ नहीं होतीं।

स्थूलशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर क्रिया और पदार्थमें आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्मशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर चिन्तन तथा ध्यानमें, और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्थिरता तथा एकाग्रतामें आसक्ति नहीं होती। आप शरीरसे अतीत हैं। शरीर प्रकृतिका कार्य है, आप परमात्माके अंश हैं।

परमात्माकी शक्तिके साथ सम्बन्ध होनेसे साधन करणसापेक्ष होता है।

भगवान्‌को मानें या न मानें, उनकी कृपा सबपर समान है। उसमें भी न माननेवालेपर ज्यादा कृपा होती है; क्योंकि ***'नहिं जाके हरि होय'!***

जिसका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उसका त्याग कठिन नहीं है, प्रत्युत उसका राग कठिन है। त्यागमें परिश्रम नहीं है। परन्तु संयोगजन्य सुखकी लोलुपता त्याग नहीं करने देती।

अभ्याससे न राग मिटता है, न प्रेम मिटता है। अभ्यास केवल मनोनिग्रहके लिये है।

जो आपको छोड़ता है, उसे आप छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे। त्यागके समान कोई सुगम साधन है ही नहीं!

— — —

करणनिरपेक्ष साधनकी सिद्धि तत्काल होती है, जबकि करणसापेक्ष साधनकी सिद्धि समय पाकर होती है। शरीर मैं नहीं हूँ—इसके अनुभवमें बाधा यह है कि आप इसे बुद्धिसे पकड़ना चाहते हैं, बुद्धिसे जोर लगाते हैं, बुद्धिसे अनुभव करना चाहते हैं। स्वयंसे होनेवाले अनुभवका आदर करें। स्वीकृति-अस्वीकृति स्वयंकी होती है। स्वयंकी स्वीकृति विस्मृति नहीं होती। 'मैं हूँ'—इससे जो बात 'हूँ' के साथ लग जाती है, उसकी विस्मृति नहीं होती; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं विवाहित हूँ' आदि।

अपने विवेकका अनादर करनेसे समान कोई पाप नहीं है। जो अपने विवेकका आदर नहीं करता, वह शास्त्र, गुरु, सन्तकी वाणीका भी आदर नहीं कर सकता। शरीर जानेवाला है—इस विवेकका अनादर ही जन्म-मरण देनेवाला है। विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करें तो अभी मुक्ति है।

विवेकका आदर अभी करें तो अभी मुक्ति हो जाय। 'अन्त:करण शुद्ध नहीं है, अच्छे महात्मा नहीं मिले, हमारे कर्म ऐसे नहीं हैं, भगवान्‌से कृपा नहीं की'—यह सब बहानाबाजी है। खास बीमारी यह है कि हम संयोगजन्य सुख लेना चाहते हैं। यदि आप अपने विवेकका आदर न करें तो वर्षोंतक समाधि लगा ले, कल्याण नहीं होगा। मैं शरीर नहीं हूँ—यह स्वीकृति है, अभ्यास नहीं। यह विवेक आप सभीको है, पर आप इसका आदर नहीं करते।

मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-अहम् भी कर्ता नहीं हैं और स्वयं भी कर्ता नहीं है। तो फिर कर्ता कौन है? कर्ता वह है, जो भोक्ता होता है। भोक्ता आप बनते हैं। पर प्रकृतिस्थ पुरुष ही भोक्ता बनता है, स्वस्थ पुरुष नहीं। आपका स्वरूप सत्ता है। स्वरूप न कर्ता है, न भोक्ता—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता 13। 31)। आप भोगके ज्ञाता हो, ज्ञानस्वरूप हो। सत्तामें भोक्ता नहीं है। वह सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माके साथ एक है।

यदि आप अपनेको शरीरमें स्थित मानते हो तो आप ही कर्ता और भोक्त हो, अन्यथा न 'नहीं' कर्ता है, न 'है' कर्ता है। अत: आप अपनेको 'नहीं' से भी हटा लो और 'है' से भी हटा लो। न जड़के साथ एकता रखो, न चेतनके साथ एकता रखो। यदि शून्यता दीखे तो आप शून्यताके ज्ञाता हो, शून्यता ज्ञेय है। शून्यताको जाननेवाला शून्य नहीं होता। आप शून्यताके साक्षी, प्रकाशक, आधार, अधिष्ठान हो।

— — —

अपनेको 'यह' से भी हटा लो और 'है' से भी हटा लो। फिर योग रहेगा, समता रहेगी। 'है' में व्यक्तित्व नहीं है। अत: योगी, ज्ञानी और प्रेमी नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल योग, ज्ञान और प्रेम रहेगा। अहम् साथमें रहनेसे योगी, ज्ञानी और प्रेम होता है। जबतक अहम् है, तबतक एकदेशीयपना रहेगा। वास्तवमें शरीरका कोई मालिक (अहम्) नहीं है।

मुक्ति होनेपर भी अपना एक मत रहता है, जिससे दार्शनिकोंमें परस्पर प्रेम नहीं होता। अत: अपने किसी मतका आग्रह न रहे, पर वह होगा। '**वासुदेव: सर्वम्**' होनेपर। 'गति' स्वरूपकी तरफ होती है और उसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। मतका आग्रह होनेसे वह गति रुक जाती है।

मुसलमानों, ईसाईयों आदिपर हम विश्‍वास भले ही न करें, पर हमारे प्रेममें कोई फर्क नहीं है।

किसी भी साधनका अभिमान हो, वह खटकता है, उसमें टक्कर लगती है, पर प्रेममें कोई टक्कर नहीं लगती।

— — —

कर्मयोगकी खास बात है—अपने अधिकारका त्याग तथा दूसरेके अधिकारकी रक्षा। अपने कर्तव्यका पालन तथा फलकी इच्छाका त्याग। इससे तत्त्वज्ञान, मोक्ष आदि जो चाहो, सो हो जायगा।

'नफा वस्तुमें नहीं, भावमें है'; अत: अपने भावको नीचे नहीं गिरने देना चाहिये। सब वस्तुएँ सब जगह हैं, केवल भावकी कमी है। भवसे ही वस्तु बनी है, संसार बना है। भावके कारण ही प्रह्लादजीको अग्नि जला नहीं सकी। सृष्टि भावसे ही पैदा होती है।

भगवान् किसी भी रूपमें आयें, उनको पहचान लो तो फिर वे प्रकट हो जायँगे।

— — —

चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी असाधन नहीं होना चाहिये, तभी हम साधक कहलानेयोग्य हैं। ऐसा तभी सम्भव है, जब अपनी सत्ताके साथ साधन होगा। अपनी सत्ताका अनुभव निरन्तर होता है। 'मैं हूँ'—इसमें कभी व्यवधान पड़ता

है क्या? विवाहित स्त्री भले ही खराब आचरणवाली हो, पर 'मैं विवाहित हूँ'—इसे वह कभी भूलती नहीं। ऐसे ही स्वीकार कर लें कि मैं लोभी, क्रोधी, कामी, संसारी आदि नहीं हूँ, प्रत्युत 'मैं भगवान्‌का हूँ'।

भगवान् साधकको बहुत रक्षा करते हैं, पर अपनेको छिपाकर करते हैं। यह भगवान्‌के देनेकी रीति है।

क्रोधका स्वभाव अहित करनेका होता है। सामान्य व्यक्तियोंमें क्रोध आता है—बुरा करनेके लिये। बुरा किये बिना उन्हें सन्तोष नहीं होता। परन्तु सन्तोंमें क्रोध आता है—भला (हित) करनेके लिये।

— — —

संसाररूपसे भगवान्‌का सबसे पहला अवतार हुआ। हम सोचते हैं कि भगवान् रामके अवतारके समय हम भी होते और उनको देखते। परन्तु संसाररूपसे भगवान्‌का अवतार हमारे सामने है! उसके दर्शन करो। उसे नमस्कार करो। मूर्तिपूजासे भगवान् कई भक्तोंके सामने प्रकट हो गये। यह संसार भी भगवान्‌की मूर्ति है। यह सब भगवान्‌का विराट् रूप है, स्वयम्भू विग्रह है! अब इससे सुगम और क्या परमात्मप्राप्ति होगी!! जो कुछ कर्म करो, सब भगवान्‌का पूजन मानकर करो। यह निरन्तर साधन है।

आँखोंसे महात्मा नहीं दीखता, प्रत्युत मनुष्य दीखता है।

राग-द्वेष मिटाओगे तो देरी लगेगी। अतः राग आये तो परमात्माको देखो, द्वेष आये तो परमात्माको देखो। फिर राग-द्वेष रहेंगे नहीं। परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता मानते हैं, तभी राग-द्वेष होते हैं।

— — —

संसारका वियोग नित्य है और संयोग अनित्य है। यदि सुख-शान्ति चाहते हो तो नित्यको पकड़ो। जो संयोगकालमें ही वियोगका अनुभव कर लेता है, वह दुःखी नहीं होता। अनित्यकी इच्छा करके व्यर्थमें ही दुःख पा रहे हो। यदि संयोग हो भी जाय तो भी अन्तमें वियोग ही नित्य रहेगा। अनित्य संयोगकी लालसा ही बाध है। इच्छा न करनेपर भी होनेवाला होगा, न होनेवाला नहीं होगा।

संयोग ही अध्यस्त है। नित्ययोग अधिष्ठान है।

आप अपनेको कभी पापी न मानें। सब-के-सब निर्दोष हैं। निर्दोषता आपका स्वरूप है। आप परमात्माके अंश है—इस सच्ची बातको स्वीकार कर लें।

दुःख के सभी ऋणी हैं! दुःख आकर सुखकी इच्छा छुड़ा देता है। सुखकी लालसा छूटते ही दुःख चला जाता है। अब उसका ऋण कैसे चुकायें?

अनित्य वस्तुका सम्बन्ध कभी नित्य हो सकता ही नहीं।

— — —

यदि '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जाय तो सभी जड़ वस्तुएँ चिन्मय हो जायँगी।

वस्तुओंका दुरुपयोग न करें, संग्रह न करें, उनमें ममता न करें तो वस्तुएँ आनेको लालायित रहती हैं। ममता करनेसे वस्तुएँ भयभीत होती हैं।

मनुष्यजन्मकी सफलता है—दुनियाके लिये, अपने लिये और भगवान्‌के लिये उपयोगी होना।

कुछ मिल जाय—यह निर्बलता है। मनुष्य चाहके कारण ही निर्बल हो रहा है।

केवल इतनी लालसा लग जाय कि कब सम्पूर्ण जगत् ईश्वररूप दीखेगा! ऐसा दिन कब आयेगा! तो काम हो जायगा।

— — —

विवके जाग्रत होनेका तात्पर्य है—'मैं शरीर नहीं हूँ' इसका अनुभव हो जाना। शरीर मैं हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—इसका खाता ही उठ जाना चाहिये।

निष्कामभावसे सामर्थ्य आती है। कामनासे पराधीनता आती है। 'योग' में सामर्थ्य, समाधि और नित्यसम्बन्ध ा—तीनों आ जाते हैं।

गीता और रामायण प्रासादिक ग्रन्थ हैं। जैसे सन्त किसीपर कृपा करते हैं, ऐसे ही ये ग्रन्थ भी कृपा करते हैं। इनका आश्रय लेनेसे नये-नये अर्थ प्रकट होते हैं। गीताका अर्थ अब मुझे कुछ-कुछ समझमें आने लगा है।

गीतासे अपनी प्यास बुझा सकते हैं, पर उसको पूरा ग्रहण नहीं कर सकते; क्योंकि गीता अनन्त है। गीता अर्जुनको भी दुबारा सुननेको नहीं मिली, पर हमें प्रतिदिन सुनने-पढ़नेको मिल रही है। यह भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है!

— — —

मृत्युका दु:ख नहीं होता, प्रत्युत 'मैं जीता रहूँ और मरना पड़ता है'—इसका दु:ख होता है। बालकसे जवान होनेका दु:ख होता है क्या?

यदि अपने ज्ञानका आप स्वयं आदर करें तो आप जीवमुक्त हो जायँगे। जो जीते ही मर जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जीते जी मरनेका अर्थ है—कामना छोड़ देना। मरा हुआ आदमी कोई कामना करता है क्या? जो मरनेसे डरता नहीं और जीनेकी आशा नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

जीनेकी आशा न रखें तो मृत्युका दु:ख नहीं होगा। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यही अशान्तिका कारण है।

— — —

सेवा संसारकी करें, विश्वास भगवान्‌पर करें। संसारपर विश्वास विवेकविरोधी है, जो पतन करनेवाला है। विवेक कहता है कि सब संसार जानेवाला है। साधकको विवेकविरोधी सम्बन्ध, विश्वास और कर्म—तीनोंका त्याग करना है।

भगवान्‌पर विश्वास ही करना पड़ता है। विश्वासके बिना भगवत्ता सिद्ध नहीं होती। विश्वासके पात्र भगवान् ही हैं। विश्वासके बिना भगवान्‌को भगवान् सिद्ध कैसे करें? भगवान्‌में समझ (बुद्धि) नहीं लगती। जो चीज देखनेमें आती है, उसमें बुद्धि, विवेक, विचार लगाना चाहिये। विश्वास विवेकसमर्थित भले ही न हो, पर विवेकविरोधी नहीं होना चाहिये।

भगवान् यदि सब कुछ जानते थे तो उन्होंने सीताजीकी खोज के लिये वानरोंको चारों तरफ क्यों भेजा? और यदि नहीं जानते थे तो मुद्रिका हनुमानजीको ही क्यों दी? भगवान्‌ने वानरोंको सीताजीकी खोजके लिये भेजा—अपनेको उनका ऋणी बनानेके लिये, उन्हें भरतसे भी अधिक प्यारे बनानेके लिये! ***'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे'*** (मानस,

उत्तर० 8। 4)।

सतीजी और गरुड़जीने भगवान्‌को जाननेमें बुद्धि लगायी तो क्या दशा हुई! भगवान् जाननेके विषय हैं ही नहीं। भगवान्‌की लीलाको देखकर इन्द्र भ्रमित हो गया! ब्रह्माजी मोहित हो गये! भगवल्लीलाके दर्शनसे मोह होता है और लीला-कथा-श्रवणसे मोह-नाश होता है। हमें लीला देखनेको नहीं मिली, पर कथा सुननेको मिल गयी, कितनी कृपा है! हमें बढ़िया चीज मिली है। भगवान् रामसे राम-नाम बड़ा है, रामके भक्त बड़े हैं, उनकी कथा बड़ी है। ये सब हमें मिले हैं।

ज्ञानसे तो अज्ञान मिटता है, पर मिलता कुछ नहीं, परन्तु विश्वास भगवान्‌से मिलाता है। अतः विश्वास ज्ञानसे बड़ा है।

— — —

माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धन है। शरीरके साथ सम्बन्ध तोड़ लें तो आज ही मुक्ति है। सम्बन्ध स्वीकार करनेके कारण मरे हुए सम्बन्धी भी याद आते हैं और सम्बन्ध स्वीकार न करनेके कारण जीते हुए भगवान् भी याद नहीं आते!

माँ-बापके साथ शरीरका सम्बन्ध है। भगवान्‌के साथ स्वयंका सम्बन्ध है। अतः यह अनुभव कर लें कि मेरा सम्बन्ध शरीरके साथ नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के साथ है। संसार अध्यस्त नहीं है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध अध्यस्त है।

परमात्माको सगुण, निर्गुण आदि जो कुछ मानो, उसके बिना व्याकुल हो जाओ तो वह प्रकट हो जायगा।

— — —

जो परमात्माको चाहते हैं, उनकी दृष्टि परमात्मामें ही रहनी चाहिये। जैसे व्यापारी पैसोंकी तरफ ही देखता है, ऐसे ही परमात्माकी तरफ ही देखते रहना चाहिये। इस व्यापारमें नफा-ही-नफा है, घाटा है ही नहीं।

आप संसारको पसन्द न करके भगवान्‌को पसन्द कर लो। अपनी तरफसे किसीको नाराज मत करो। सबकी प्रसन्नता लो। प्रत्येक काम इस भावसे करो कि भगवान्‌की सेवा कर रहा हूँ।

‘**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**’ (गीता 6। 30)—इस प्रकार ‘सबमें भगवान् हैं’ और ‘सब भगवान्‌में हैं’ इस भाँगको पीकर चुप हो जाओ!

सबमें परमात्माको देखनेसे संसार लुप्त हो जाता है; पता ही नहीं लगता कि संसार कहाँ गया! संसारका राग ही बाधक है। रागके कारण ही जड़ता है। आपकी दृष्टिमें मिट्टीका ढेला है, पर वास्तवमें वह साक्षात् परमात्मा है।

— — —

हमें जो मिलता है, भगवान् ही मिलते हैं। जब भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर मिले कैसे? अन्न, जल, वस्त्र आदि सभी रूपोंमें भगवान् ही मिलते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—‘**वासुदेवः सर्वम्**’। परन्तु इन्द्रिय-दृष्टिके प्रभावके कारण हमें भगवान् नहीं दीखते। बुद्धि-दृष्टिका प्रभाव पड़ेगा तो इन्द्रिय-दृष्टिका प्रभाव नहीं रहेगा। संसारको इन्द्रिय-दृष्टिसे देखनेपर आकर्षण होता है। इन्द्रियोंका ज्ञान वास्तवमें सावधानीके लिये है कि ‘क्या अच्छा है, क्या बुरा’—यह जानकर मनुष्य निषिद्धका त्याग कर दे।

— — —

सत्संग प्रारब्ध फल नहीं है। यह भगवत्कृपासे मिलता है—***'जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये'*** (विनयपत्रिका 136। 10)। प्रारब्धका फल है—भोग और संग्रह।

घरमें परस्पर प्रेम रखो तो यह प्रेम आपको भगवान्‌तक पहुँचा देगा। कारण कि प्रेमका भोक्ता भगवान् हैं। ज्ञान भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्‌तक पहुँचता है।

— — —

मैं योगी हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीर बननेसे साधन बड़ा सुगम हो जाता है। भावशरीरमें होते अहम् इष्टमें लीन हो जाता है। आप जिस मार्गपर चलते हो, उस मार्गका भावशरीर बनाओ और साध्यकी तरफ चलते-चलते साध्यमें लीन हो जाओ।

श्रीजी, सीताजी, पार्वतीजी—ये सब 'प्रेम' का स्वरूप हैं। श्रीजी और कृष्ण, सीता और राम, पार्वती और शंकर—दोनोंमें कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद—इसका पता ही नहीं लगता!

प्रेम भगवान्‌का स्वभाव है और भक्तका जीवन है। गीताके अनुसार ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है। ज्ञानीमें सूक्ष्म अहंकार रहता है, प्रेमीमें नहीं रहता। प्रेमीकी दृष्टिमें एक प्रेमास्पदके सिवाय कुछ नहीं रहता।

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंमें साधककी जिसमें रुचि, विश्वास और योग्यता हो, वही उसके लिये सुगम है। वास्तवमें भक्तियोग सबसे सुगम है; क्योंकि ज्ञानयोगमें अहंताको मिटाने और कर्मयोगमें अहंताको शुद्ध करनेकी अपेक्षा भक्तियोगमें अहंताको बदलना सुगम है।

साधन भीतरसे पैदा होना चाहिये, ऊपरसे नहीं भरना चाहिये।

'करना' निरन्तर नहीं होता; क्योंकि क्रियामें थकावट होती है। परन्तु 'होना' निरन्तर होता है।

— — —

अपनी गलतीको दोहराना नहीं चाहिये। अपनेको क्षमा नहीं करना चाहिये। क्षमा दूसरोंको करना चाहिये। दूसरेके द्वारा क्षमा माँगे बिना ही क्षमा कर देना चाहिये। क्षमा करना निर्बलका नहीं, बलवान्‌का काम है। क्षमाका अर्थ है कि दूसरेको कभी कहीं भी दण्ड न हो।

भगवान् ज्ञानीको मुक्त करके उऋण हो जाते हैं, पर भक्तके सदा ऋणी रहते हैं। ज्ञानी भगवान्‌को कुछ दे नहीं सकता। पर भक्त भगवान्‌को प्रेम देता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं, ज्ञानके नहीं। प्रेम ऐसी चीज है, जिससे कभी तृप्ति नहीं होती।

प्रेमके बिना ज्ञान कुछ नहीं हैं। ज्ञान बहुत बड़ी पूँजी है, पर प्रेम (आकर्षण)-के बिना वह पूँजी किस कामकी? कंकड़-पत्थर है! रुपयोंके आकर्षण (लोभ)-में जो रस है, वह रुपयोंके ज्ञानमें नहीं है।

जो सबके प्रेमी होते हैं, वह भगवान्‌के प्रेमी होते हैं। भक्त सबसे प्रेम करता है—***'मंद करत जो करइ भलाई'*** (मानस, सुन्दर० 41। 4)। भक्त सबको भगवत्स्वरूप समझते हैं। प्रेम भक्त किसीको बुरा नहीं मानता, किसीका बुरा नहीं चाहता और किसीका बुरा नहीं करता। अत: हम भी किसीको बुरा न मानें, बुरा न चाहें और बुरा न करें तो हम प्रेमी हो जायँगे।

बुराई जीवकृत सृष्टिमें है, ईश्वरकृत सृष्टिमें नहीं। भागवतमें आया है कि आसुरी सम्पत्ति (जीवकृत सृष्टि) भगवान्‌की पीठसे पैदा हुई है। **'पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चामि पश्चिमः।'** (श्रीमद्भा० 2। 6। 9)। इसका तात्पर्य है कि यह भगवान्‌की विमुखतासे पैदा हुई है, सम्मुखतासे नहीं।

जबतक दूसरी सत्ता मानेंगे, तबतक न मनोनाश होगा, न वासनाक्षय होगा, न तत्त्वज्ञान होगा।

साकार-निराकार एक ही हैं। सोनेका पतरा बना दो तो वह निराकार है और मूर्ति बना दो तो वह साकार है। दोनोंमें सोना एक ही है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भी साकार-निराकार दोनों होते हैं तो क्या भगवान् इनसे भी कमजोर हैं कि वे साकार नहीं हो सकते?

तत्त्वज्ञान, मुक्ति, प्रेम आदि सब भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। जो भगवान्‌को मानता ही नहीं, उसको भी भगवान् मिलते हैं।

— — —

जो आध्यात्मिक ग्रन्थोंका, शास्त्रोंका, पुस्तकोंका आदर करता है, उसका भी आदर होता है। इनका निरादर करनेवालेका भी निरादर होता है।

मैं देह नहीं हूँ, देही हूँ—ऐसा ठीक समझमें आ जाय तो सभी साधन सुगम हो जायँगे। शरीरको जाननेवाला शरीरसे अलग है। शरीरकी एकता सृष्टिमात्रके साथ है और शरीरीकी एकता परमात्मतत्त्वके साथ है—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'**(गीता 13। 2)। शरीरको संसारसे और अपनेको परमात्मासे अलग मानना गलती है।

शरीरकी तरफ दृष्टि होनेसे हम 'शरीरी' (शरीरको जाननेवाले) हैं। शरीरकी तरफ दृष्टि न रहे तो केवल 'है' (सत्तामत्र) हैं। आप 'मैं' को छोड़ दें और 'हूँ' की 'है' के साथ अभिन्नता कर लें। शरीरकी तरफ दृष्टि होनेसे ही 'हूँ' है। प्रकाश्यकी नहीं हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। 'मैं' संसारकी तरफ है और 'हूँ' परमात्माकी तरफ है—इतनी ही बात है।

मोटर चलती है तो आपको पसीना आता है क्या? ऐसे ही शरीरको ज्वर आनेसे आपको ज्वर नहीं आता। परन्तु मुझे ज्वर आ गया—ऐसा आप मान लेते हैं। शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—इसका अनुभव अभी करना है। इसमें अभ्यासकी नहीं, विवेककी जरूरत है। ज्ञान विवेकसे होता है, अभ्याससे नहीं।

जैसे मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ आदि भाव निरन्तर रहता है, ऐसे ही यह भाव निरन्तर रहे कि मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। ऐसा भाव करके चुप हो जायँ। यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत विवेकका आदर है।

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह विचारमें आस्थाको मिलाना है। यह मेरी माँ क्यों है?—यह आस्थामें विचारको मिलाना है। ये दोनों नहीं होने चाहिये।

— — —

निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित रहो। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ आती हैं और मिट जाती हैं, स्वरूपमें क्या फर्क पड़ा? न अच्छा ठहरता है, न बुरा ठहरता है। वास्तवमें शरीरके साथ सम्बन्ध माननेसे ही कामना पैदा होती है और निषिद्ध कर्म होते हैं।

शास्त्रोंमें गुरुकी जो महिमा कही गयी है, वह चेलेकी दृष्टिसे है, गुरुकी दृष्टिसे नहीं।

— — —

श्रोता—कल्याणकी उत्कण्ठा कैसे हो?

स्वामीजी—उत्कण्ठाकी उत्कण्ठा हो जाय! अर्थात् 'उत्कण्ठा कैसे हो?'—इसकी उत्कण्ठा हो जाय। दूसरी बात, सांसारिक प्राणि-पदार्थोंमें आसक्ति न रहे। 'मेरा उद्धार कैसे हो'—यह उत्कट अभिलाषा हो जाय तो पापी-से-पापीका भी उद्धार हो सकता है।

जैसे भूख भले ही न लगे, पर भूखकी भूख तो लगनी चाहिये, ऐसे ही उत्कण्ठाकी उत्कण्ठा तो होनी चाहिये। इसमें कोई असमर्थ नहीं है।

आज हमें जो सत्संगका मौका मिला है, यह कर्मोंका (प्रारब्धका) फल नहीं है। यह केवल भगवत्कृपाका फल है।

संसार आजतक कभी किसीको नहीं मिला। मिला है तो परमात्मा ही मिला है। यदि संसार मिला होता तो संसारकी इच्छा नहीं रहती। जो मिलता है, वह परमात्मा ही मिलता है।

चाहे मैं-ही-मैं हूँ, चाहे तू-ही-तू है, चाहे यह-ही-यह है, चाहे वह-ही-वह है—इनमेंसे कोई एक हो जाय तो काम हो जायगा।

— — —

जब कभी कल्याण होगा, भगवान्‌की कृपासे ही होगा। हम अपने सब कर्मोंका फल भोगकर कल्याण कर लेंगे—यह सम्भव नहीं है। भगवान् माफ करते हैं, तभी कल्याण होता है।

असाधनका त्याग किये बिना साधनकी सिद्धि नहीं होती। चौबीस घण्टोंमें एक मिनट भी असाधन न हो, तब साधन होता है। आंशिक साधनसे सिद्धि नहीं होती।

तत्त्वज्ञानका अन्तःकरणके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तत्त्वज्ञान प्रकृतिसे अतीत है, जबकि अन्तःकरण प्रकृतिका कार्य है। फिर अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धिका तत्त्वज्ञानसे क्या सम्बन्ध?

करणनिरपेक्षमें साक्षात् साधन होता है, पर करणसापेक्षमें परम्परासे साधन होता है।

— — —

जैसे तत्त्वसे सोना होते हुए भी गहनोंका उपयोग यथास्थान ही होगा, ऐसे ही '**वासुदेवः सर्वम्**' होते हुए भी व्यवहार यथायोग्य (मर्यादाके अनुसार) होगा और बहुत बढ़िया होगा।

कर्मयोगमें सेवावृत्ति रहती है। ज्ञानयोगमें उदासीन वृत्ति तथा कुछ कठोरता रहती है। भक्तियोगमें करुणा, दयालुता तथा कोमलता रहती है।

दूसरेके सुखसे सुखी होनेसे कामवृत्ति, आसक्ति, लोभ, भोगेच्छा मिट जायगी। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेसे संग्रहकी आसक्ति मिट जायगी। मनुष्य अपने सुखसे अशुद्ध सुखी होता है और दूसरेके सुखसे शुद्ध सुखी होता है। शुद्ध सुखकी आसक्तिसे मलिन सुखकी आसक्ति छूट जायगी।

भक्तिमें विरहके समान कोई चीज नहीं। दूसरेके दुःखसे द्रवित होनेपर उस द्रवित हृदयमें जिज्ञासा, विरह आदि

स्वतः पैदा हो जायँगे।

— — —

जैसे औषधालयकी सब दवाएँ हमारे कामकी नहीं होती, ऐसे ही शास्त्रोंकी सब बातें सबके लिये नहीं होतीं। जो बात अपने कामकी है, उसे ले लो। आपको अपनी प्यास मिटानी है।

समुद्रमेंसे कोई राई कैसे निकाल सकता है? नहीं निकाल सकता। पर संसारभरके ग्रन्थोंमेंसे भगवान्ने 'गीता' निकालकर हमें दे दी—यह उनकी कितनी कृपा है! फिर भी हम चेत न करें तो भगवान्का क्या दोष है?

आजकल विवेकमार्गी बहुत थोड़े हैं, ज्यादा विश्वासमार्गी ही हैं। जबतक जान नहीं जायँगे, तबतक नहीं मानेंगे—यह विवेकमार्गी है। विश्वासमार्गमें पहले मानकर फिर जानते हैं।

— — —

'**वासुदेवः सर्वम्**' में वाग्विवाद, मतभेद नहीं है। ज्ञानमें मतभेद होता है, प्रेममें मतभेद नहीं होता। प्रेम मतभेदको खा जाता है। मतमें भेद होता है, प्रेममें भेद नहीं होता। प्रेमाद्वैत बहुत विलक्षण चीज है।

जबतक संसारकी सत्ता रहेगी, तबतक भेद नहीं मिटेगा। जबतक संसार और परमात्मा, त्याज्य और ग्राह्य—ये दो रहेंगे, तबतक प्रेम नहीं हो सकता। जबतक यह वृत्ति रहेगी कि मनको संसारसे हटायें और परमात्मामें लगायें, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होगा। जबतक दोका विभाग रहेगा, तबतक मनका निरोध बड़ा कठिन है। पर जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब मन कहाँ जायगा? जब एक प्रभुके सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर मनको कहाँसे हटायेंगे और कहाँ लगायेंगे? दो चीजें नहीं रहेंगी तो निरन्तर भजन ही होगा, भजनके सिवाय क्या होगा? विवेकामार्गमें नित्य-अनित्य, सत्-असत्, जड़-चेतन दो चीजें रहेंगी।

वस्तु पासमें रखना दोष नहीं है, पर उसका सहारा नहीं होना चाहिये।

— — —

आप सब जीवन्मुक्त हैं तथा भगवान्को प्यारे हैं—'***सब मम प्रिय सब मम उपजाए***' (मानस, उत्तर० 86। 2)। संसारका बन्धन आपका माना हुआ है, है नहीं, तभी वह कटता है। हमारा सम्बन्ध भगवान्के साथ है। भीतरसे स्वीकार कर लें कि हम भगवान्के हैं। यह सच्ची बात है। सच्ची बातको स्वीकार करना ही ज्ञान है, मुक्ति है, भक्ति है।

सत्को स्वीकार करना हो तो दूसरेको सामने मत रखो, अपनेको सामने रखो। दूसरेको सामने रखोगे तो सत्य नहीं मिलेगा।

शरीरको आपने ही अपना मान रखा है और 'शरीर अपना नहीं है'—यह भी आपको ही मानना है। अबतक शरीरको अपना मानकर आपने क्या नफा उठाया?

— — —

भगवान्की ऐसी कृपा है कि वे पात्रको तो मिलते ही हैं, अपात्रको भी मिलते हैं, कुपात्रको भी मिलते हैं! आप अपनेको देखें कि भगवान्की कृपासे हमने कहाँ जन्म लिया, कहाँ चले गये! क्या चाहते थे, क्या हो गये! कैसे थे, पर कैसा सत्संग मिल गया!

भगवान् हमसे प्रेम करते हैं—इसकी पहचान यह है कि हमें सत्संग मिल गया! सत्संग हमारे पुरुषार्थसे नहीं मिलता, केवल भगवत्कृपासे मिलता है। एक मार्मिक बात है कि अचानक कभी भगवान्‌की याद आ जाय तो समझें कि भगवान् मुझे याद करते हैं। उस समय विशेषरूपसे, सब काम छोड़कर भगवान्‌में लग जाना चाहिये—**'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्'**। नामजप, कीर्तन, सत्संग, पाठ आदि किसी भी तरहसे भगवान्‌में मन लगाना चाहिये।

— — —

हमारा स्वभाव तब सुधेरगा, जब हम अपने प्रति न्याय करेंगे, अपनेको दण्ड देंगे और दूसरेको क्षमा करेंगे। पुत्र, शिष्य आदिपर भी पहले शासन न करके उन्हें प्रेमसे समझायें। प्रेमसे न समझें, तब उनपर शासन करें।

हमारे दु:खका कारण कोई दूसरा नहीं है। दु:ख होता है तो वह हमारी भूलका फल है।

— — —

जो अपना कल्याण चाहता है, वह किसीके भी प्रति बुरी भावना न करे। किसी भी प्राणीको बुरा न समझे। यह व्रत ले ले कि मैं किसीको भी बुरा नहीं समझूँगा, किसीका भी बुरा (नुकसान) नहीं करूँगा, और किसीका भी बुरा नहीं चाहूँगा। यह नियम ले लें; पक्का विचार कर लें।

आपको कोई आदमी बुरा करता हुआ दीखता है तो क्या वह अपनी पत्नी, पुत्र आदिका भी बुरा करता है? तात्पर्य है कि सर्वथा बुरा कोई हो ही नहीं सकता। पर सर्वथा भला हो सकता है। बुरा तो उसे ही कह सकते हैं, जो सर्वथा बुरा-ही-बुरा करता हो।

स्वरूपमें बुराई नहीं है—**'चेतन अमल सहज सुख रासी'**। सबका स्वरूप निर्दोष है। दूसरी बात, दूसरेको बुरा माननेका आपको क्या अधिकार है? क्या आपको दूसरोंकी बुराई देखनेका अधिकार मिला हुआ है? दूसरा आपके साथ बुराई कर रहा है तो क्या आपके द्वारा कभी किसीका बुरा नहीं होता? अपनी बुराईको आप क्षमा कर देते हैं। वास्तवमें क्षमा दूसरोंकी होती है।

किसीमें भी बुराईकी स्थापना मत करो, न दूसरोंमें, न अपनेमें। अपनेको बुरा मानोगे तो आप बुरे हो जाओगे; क्योंकि ईश्वरका अंश होनेसे आप सत्यसंकल्प हो। रावण बुरा था तो क्या सबके लिये बुरा था? बुरे-से-बुरे व्यक्तिमें भी भलाई होती है। रावणने वेदोंपर भाष्य लिखा था; 'रावण-संहिता' की रचना की थी।

दूसरेको बुरा माननेसे हमारा, दूसरेका और संसारका नुकसान है। दूसरेको बुरा मानना अपराध है। अपराध पापसे भी भयंकर होता है। अपराध दण्ड भोगनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रत्युत जिसका अपराध किया है, उसके क्षमा करनेपर ही नष्ट होता है।

किसीका बुरा करोगे तो उसका तो बुरा होनेवाला ही होगा, पर आपकी नयी बुराई हो जायगी।

— — —

अपना कर्तव्य ही अपना 'धर्म' है। जिसे कर सकते हैं और जिसे करना चाहिये, वह 'कर्तव्य' होता है। जिसे कर न सकें और जिसे करना नहीं चाहिये, वह कर्तव्य नहीं होता। कर्तव्य कभी कठिन नहीं होता। वास्तविक धर्मात्माको किसीकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है।

निषिद्ध कर्मका त्याग कर दें तो विहित कर्मका अनुष्ठान स्वत: होगा। हमें जो बर्ताव बुरा लगता हो, उसे दूसरोंके

साथ भी मत करो। जो नहीं करना चाहिये, उसे करते हैं—यही बन्धन है।

जब आप किसीसे भी बुरा बर्ताव नहीं चाहते तो फिर दूसरेसे बुरा बर्ताव करनेका आपको क्या अधिकार है? जब आप चाहते हैं कि कोई मुझे बुरा न माने तो फिर आपको दूसरेको बुरा माननेका क्या अधिकार है? आप ऐसा करके अपने ही ज्ञानकी हत्या करते हैं।

शुद्धि स्वतः है, अशुद्धि बनावटी है। मुक्ति स्वतः है, बन्धन बनावटी है। भलाई स्वतः है, बुराई बनावटी है।

— — —

'मैं' बदल जाय तो क्रिया स्वतः बदल जायगी। विवाहित होनेपर मैं-पन बदल जाता है कि अब मैं कुँआरी नहीं हूँ, अब पतिका घर मेरा घर है। गोत्र, जाति, भाव आदि सब बदल जाते हैं। मैं-पन बदलनेसे सब क्रियाएँ बदल जाती हैं। ऐसे ही आपका मैं-पन बदल जाय कि मैं भगवान्‌का हूँ, संसारका नहीं हूँ। अहंता बदलनेसे साधन बहुत सुगम हो जायगा। फिर यह शिकायत नहीं रहेगी कि क्या करें, निरन्तर साधन नहीं होता, मन नहीं लगता, भगवान्‌को भूल जाते हैं! फिर चौबीसों घण्टे साधन होगा। निरन्तर साधन हुए बिना इस जीवनके रहते सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती।

जैसे जल सब जगह रहता है, पर उसकी प्राप्ति कुएँसे होती है। ऐसे ही परमात्मा अच्छे-बुरे, विहित-निषिद्ध आदि सबमें समानरूपसे रहते हैं, पर उनकी प्राप्ति विहितसे ही होती है।

सूर्यकी किरणें सर्वत्र बराबर पड़ती हैं, पर लकड़ी छाया करती है, काँच छाया नहीं करता और आतशी शीशा जला देता है। ऐसे ही परमात्मा सर्वत्र समान हैं, पर मनुष्य अपने भावके अनुसार लाभ उठाते हैं। भक्त आतशी शीशेकी तरह होता है, जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको खींच लेता है। सब वस्तुएँ आतशी शीश नहीं बन सकतीं, पर सब मनुष्य भक्त बन सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने जो लिखा, वह कविकी रचना (कविता) नहीं है, प्रत्युत सन्तकी वाणी है।

— — —

भगवान्‌की रची हुई वस्तुएँ सबको सुख देनेवाली हैं। पृथ्वी सबको स्थान देती है। जल सबकी समानरूपसे प्यास शान्त करता है। सूर्य सबको बराबर प्रकाश देता है। वायु सबको समानरूपसे श्वास देती है। तात्पर्य है कि भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टि सबको सुख-आराम देनेवाली है, बन्धन करनेवाली नहीं है। भगवान्‌की माया (सृष्टि)-को अपना मान लिया—यह बेईमानी है। इस बेईमानीसे बन्धन होता है।

— — —

साधक दो तरहके होते हैं। एकमें स्वाभाविक ही त्याग-वैराग्य रहता है और दूसरे सत्संग सुनकर, पुस्तकें पढ़कर भगवान्‌में लगते हैं। एकमें स्वाभाविक ही त्याग-वैराग्य रहता है और दूसरे सत्संग सुनकर, पुस्तकें पढ़कर भगवान्‌में लगते हैं। ऐसे (दूसरी तरहके) साधकोंकी सत्संगके समय जैसी वृत्ति रहती है, वैसी दूसरे समयमें नहीं रहती। सत्संगका असर धीरे-धीरे उतर जाता है और वे पुनः भोगोंमें लग जाते हैं। उनकी यह शिकायत रहती है कि सत्संगसे कोई लाभ नहीं हुआ। पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। उनमें एक परिवर्तन जरूर होता है। काम-क्रोधादि वेग पहले जितनी जोरसे आता था, उतनी जोरसे अब नहीं आता। पहले वे जितनी देर ठहरते थे, उतनी देर अब नहीं ठहरते। पहले वे जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते। सत्संग करनेसे इन तीनों बातोंमें फर्क पड़ता है। जैसे वर्षा होनेपर खेतीमें एक

नयापन आ जाता है, हरियाली आ जाती है, ऐसे ही सत्संग मिलनेपर साधकके हृदयमें एक नयापन आ जाता है।

सत्संग करानेवाला (वक्ता) जितनी अनुभवी होता है, उतना दूसरोंको अधिक लाभ होता है। अनुभवी पुरुषकी वाणी गोलीभरी बन्दूककी तरह है, जो चोट करती है। उसकी वाणीसे दूसरोंका जीवन बदल जाता है।

जादू-टोना, मलिन मन्त्र उसपर असर करते हैं, जो अपवित्र रहता है। कलियुगने अपवित्र अवस्थामें ही राजा नलमें प्रवेश किया था। भक्तोंकी कथा, पुराण आदिके श्रवण-पठनसे पवित्रता आती है। पवित्रता आनेसे जादू-टोना, भूत-प्रेतादिका असर नहीं पड़ता।

— — —

बन्द कमरेमें सूर्यकी जो किरण आती है, उससे अँधेरेमें प्रकाश हो जाता है। परन्तु कमरेसे बाहर देखें तो कितना प्रकाश है!! ऐसे ही गीताका जो अर्थ अभी समझमें आया है, वह तो एक किरण है। वास्तवमें गीता कितनी विलक्षण है!!

— — —

मनुष्य अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें तो कल्याण स्वत:सिद्ध है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो प्राप्तिकी सामग्री भी दी है, स्वतन्त्रता भी दी है। मात्र मनुष्य अपना कल्याण कर सकते हैं और सुगमतासे कर सकते हैं, प्रत्येक परिस्थितिमें कर सकते हैं। परिस्थितिको मिटाना या बदलना अपने हाथ की बात नहीं है, उसका सदुपयोग करना हमारे हाथकी बात है। अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियोंके सदुपयोगसे अपना कल्याण कर सकते हैं। परिस्थिति बदलनेकी जरूरत नहीं है। कल्याणके लिये नयी परिस्थितिकी जरूरत नहीं है।

केवल दूसरेके हितके लिये सब कर्म करें तो कल्याण हो जायगा। स्त्री-पुरुष एक-दूसरेको परवश न करें और अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें।

— — —

मनुष्यका एक निश्चय (व्यवसायात्मिका बुद्धि) होना चाहिये। वह एक निश्चय परमात्मप्राप्तिका ही हो सकता है; क्योंकि परमात्मा एक है। संसारका एक निश्चय नहीं हो सकता।

'भोग' और 'संग्रह' में प्रारब्धकी प्रधानता है, पुरुषार्थकी गौणता है। 'धर्म' और 'कल्याण' में पुरुषार्थकी प्रधानता है, प्रारब्धकी गौणता है। धनके लिये कोई नियम नहीं लेता कि इतने रुपये तो हम रोज पैदा करेंगे ही। कारण कि यह प्रारब्धके अधीन है।

आजकल तीन आफतें हो गयीं—आवश्यकताएँ बढ़ गयीं, वस्तुएँ महँगी हो गयीं, रुपये कम हो गये!

— — —

कामनाके रहते हुए मनकी चंचलता मिटनी कठिन नहीं है, पर बुद्धिकी स्थिरता होनी कठिन है। कामनाके रहते हुए भी मन निश्चल हो सकता है, तभी योगदर्शनमें 'विभूतिपाद' आया है। मनमें कामना रहते हुए चंचलता मिटती है तो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

स्वयंका विचार कल्याण करनेका होना चाहिये। स्वयंका ध्येय हो तो कामना रहते हुए मनकी चंचलता मिट सकती

है। स्वयंमें रहनेवाली सूक्ष्म कामना परमात्मप्राप्ति होनेपर मिटती है—‘**परं दृष्ट्वा निवर्तते**’ (गीता 2। 59)।

— — —

करने और होनका विभाग अलग-अलग है। अतः इन दोनों (प्रारब्ध और पुरुषार्थ)-में बलाबलका विचार नहीं होता। बलाबलका विचार एकमें होता है। पाप और पुण्य—दोनोंका संग्रह अलग-अलग होता है। ये एक-दूसरेसे कटते नहीं। पाप कटते हैं प्रायश्चित्त कर्मसे, पर इसमें बलाबलका विचार होता है।

धनकी प्राप्तिमें क्रियाकी मुख्यता है। परमात्माकी प्राप्तिमें लालसाकी मुख्यता है।

— — —

कामना करनेसे वस्तु मिल जाती है क्या? क्या जीवनमें हमारी सभी कामनाएँ पूरी हुई हैं? सर्वथा मनचाहा किसीका भी नहीं होता। अगर सभी कामनाएँ पूरी होने लगें तो बड़ी मुश्किल हो जाय! कारण कि हम ढंगसे चाहना नहीं करते। कभी अच्छा चाहते हैं, कभी बुरा चाहते हैं। अतः भगवान् जो चाहें, वही होना ठीक है।

— — —

संसारके सभी साथी बिछुड़नेवाले हैं। इसमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो पहले आया है, वह पहले जायगा।

सत्संगमें आनेवाले जितने हमारे है, उतने घरमें रहनेवाले हमारे नहीं हैं। कारण कि सत्संगमें हमारा सम्बन्ध किसी व्यक्तिके साथ नहीं है। हमारा सम्बन्ध केवल परमात्माके साथ है, और सत्संगमें आनेवाले परमात्माकी तरफ चलनेवाले हैं। वास्तवमें परमात्माके नाते प्राणिमात्र हमारे साथ एक है, पर बाहरसे कोई अपना नहीं है।

लेनेसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कारण कि लेनेवालेको देना पड़ता है, कर्जा उतारना पड़ता है।

दूसरेको दुःख दोगे तो भजनमें मन नहीं लगेगा, और सुख दोगे तो भजनमें मन लगेगा। दूसरेको दुःख देनेसे हृदय कठोर होता है, और सुख देनेसे हृदय पिघलता है। पिघले हुए हृदयमें पारमार्थिक बातें जम जाती हैं।

— — —

परमात्मासे विमुख होनेसे ही हम दुःखी हुए हैं। वह दुःख मिटेगा भगवान्की शरण होनेसे। अग्निसे वियुक्त होनेसे ही कोयला काला हुआ है। भोग और संग्रहसे सुख पानेकी चेष्टा करना मानो साबुन लगाकर कोयलेको साफ करना है! कोयला साफ होगा अग्निसे सम्बन्ध होनेपर। भोग और संग्रहसे आजतक एक भी व्यक्ति सुखी नहीं हुआ। भोगी व्यक्ति नींदके बिना नहीं रह सकता, पर भजन करनेवालेको नींद बुरी लगती है। नींदमें संसारको भूलनेसे सुख मिलता है, नीरोगता आती है, ताजगी आती है। अगर संसारको भीतरसे त्याग दें तो महान् आनन्द है!

संसारकी रुचि तो अरुचिमें ही है, पर भगवान्की रुचि अरुचिमें नहीं बदलती। भगवान्की रुचि तो बढ़ती ही रहती है। भगवान्के भजनमें नींद भी बाधक दीखती है। भोगियोंके लिये नींद मित्र है, और भजन करनेवालोंके लिये नींद वैरी है। यह दोनोंमें प्रत्यक्ष अन्तर है।

— — —

अपने लिये, संसारके लिये और भगवान्के लिये भी उपयोगी हो जाय—यह अधिकार केवल मनुष्यको ही मिला है। यह भगवान्का मनुष्यशरीरसे पक्षपात है! भगवान्ने इतनी समझ, सामग्री, समय तथा सामर्थ्य दी है कि मनुष्य एक

जन्ममें कई बार अपना कल्याण कर ले!

— — —

आप घरमें रहें तो कोई बाधा नहीं आती। बाधा तब आती है, जब घर आपमें बसे। नाव पानीमें रहनी चाहिये। पानी नावमें रहे तो नाव डूब जायगी। पानीमें नाव खुद भ्झी तरती है और दूसरोंको भी तारती है। संसारमें लेनेके लिये न रहें, देनेके लिये रहें। संसारमें ममता करनेवाला फँसता है, सेवा करनेवाला नहीं। ममता छूटना कठिन है, पर ममता रखना असम्भव है।

भोजन वह बढ़िया होता है, जिसमें खानेवालेकी अपेक्षा खिलानेवालेको ज्यादा आनन्द आता है। ज्यादा आनन्द उसको वस्तु देनेमें आता है, जो लेना नहीं चाहता। चोर-डाकूको वस्तु देनेमें आनन्द आता है क्या?

गृहस्थमें अगर यह भाव रहे कि मुझे सुख कैसे मिले तो सब दु:खी हो जायँगे, और यह भाव रहे कि दूसरेको सुख कैसे मिले तो सब सुख हो जायँगे।

— — —

भगवान्‌में प्रेम होनेका मुख्य उपाय है—अपनापन। 'भगवान् मेरे हैं'—इसको पुष्ट करनेके लिये है—दूसरा कोई मेरा नहीं है'। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***। दूसरे मेरे हैं केवल सेवा करनेके लिये। भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करो तो भगवान्‌के प्रेममें बड़ी सहायता मिलेगी।

मैं और मेरा सब पारमार्थिक सिद्धि नहीं होती; न प्रेम होता है, न ज्ञान होता है।

वीररसका स्थायी भाव (आधार) क्रोध नहीं है, प्रत्युत उत्साह है। उत्साहके कारण वीरको अपने सिरका भी कोई मूल्य नहीं दीखता! सिर कटनेपर भी वह (कबन्ध) लड़ता रहता है।

— — —

साधन निरन्तर होना चाहिये। जबतक दो विभाग रहेंगे, तबतक सिद्धि नहीं होगी। साधन चौबीसों घण्टे होता है। संसारी लोगोंका जैसा खान-पान आदि व्यवहार होता है, वैसा साधकका नहीं होता। साधकके व्यवहारमें भी साधन होता है। भजनका विभाग अलग हो और व्यवहारका विभाग अलग—ऐसा नहीं होता। यदि परमात्मतत्त्वको, तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं तो दो विभाग न करें।

— — —

जो कुछ दीखता है, वह सब-का-सब निरन्तर मर रहा है। जैसे मृत्यु सबके लिये खुली (सुलभ) है, ऐसे ही मुक्ति भी सबके लिये खुली है। भजन न करनेवालोंके लिये तो यह कलियुग है, पर भजन करनेवालोंके लिये यह बड़ा सुन्दर समय है।

भगवन्नामके पीछे भगवान्‌को आना पड़ता है—यह नियम है। परन्तु भगवान्‌के पीछे नाम आ जाय—यह नियम नहीं है। भगवन्नाम सबके लिये खुला है और जीभ अपने मुखमें है—फिर बाधा किस बातकी!

— — —

भक्तिमें भगवत्कृपाका आश्रय मुख्य है। भक्तोंमें अपने साधनका अभिमान नहीं होता; क्योंकि वे अपना सम्बन्ध

साधनसे नहीं, प्रत्युत भगवान्से देखते हैं। मेरे भजनेसे, भगवादाज्ञा-पालनसे मेरा कल्याण होगा—यह उनमें नहीं होता। भजनके बिना उनसे रहा नहीं जाता। उनको भगवान्की याद स्वतः आती है, याद करनी नहीं पड़ती। यदि भगवान्को याद करना पड़ता है तो समझें कि अभी भगवान्में अपनापन नहीं हुआ।

भगवान्में प्रेम किसी क्रियासे नहीं होता, प्रत्युत भगवान्में अपनापन होनेसे होता है। भगवान् स्वतः अपने हैं। संसारको अपना मान लिया—यही गलती है।

— — —

अपनेमें कभी भी परमात्मप्राप्तिकी अयोग्यता नहीं माननी चाहिये। परमात्मप्राप्ति कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत कृपाका फल है।

करें व्यवहार और सिद्ध हो जाय परमार्थ—यह गीता सिखाती है। मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक पालन करे तो उसका कल्याण हो जाय। कर्मयोगीका इष्टदेव, पूज्य यह संसार है। कर्मयोग संसारकी, ज्ञानयोग स्वयंकी और भक्तियोग भगवान्की आवश्यकताकी पूर्ति करता है।

— — —

अपने लिये करनेवाला राक्षस होता है और दूसरोंके लिये करनेवाला मनुष्य होता है।

— — —

विचार करें, 'मैं' नाम किसका है? शरीर 'मैं' नहीं हूँ; क्योंकि शरीर बदलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भी मेरा स्वरूप नहीं है, प्रत्युत यह तो केवल मान्यता है। अवस्था बदलती है। स्वरूप नहीं बदलता। 'मैं' ब्रह्म हूँ'—यह सीखी हुई बात है, अनुभव नहीं। मैं जीव हूँ, मैं आत्मा हूँ—यह सीखी हुई बातें हैं, ज्ञान नहीं। जिसको 'यह' कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हूँ। 'यह' मैं हूँ'—ऐसे जान सकते हैं। तात्पर्य है कि हम अपनेको निषेधरूपसे ही जान सकते हैं।

— — —

हमारी मनचाही हो जाय—यह कामना है। कामना आपमें पैदा होती है, फिर मनमें आती है। यदि आपमें खुदमें कामना न होती तो फिर उसकी पूर्ति-अपूर्तिसे आपको सुख-दु:ख न होता। आप सुखी-दु:खी होते हैं अर्थात् स्वयं भोक्ता बनता है।

विचार करें, मनचाही होनेपर भी आप जीते हैं और मनचाही न होनेपर भी। मनचाही पूरी न होनेपर आप मर नहीं जाते। आपकी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। परमात्माकी इच्छा 'स्व' की है और संसारकी इच्छा 'पर' की है। अतः संसारकी इच्छा ही पतन करनेवाली है, परमात्माकी इच्छा नहीं। संसारकी इच्छा करनेसे आप गुलाम हो जाओगे।

आप ज्यों-ज्यों शरीरकी चिन्ता छोड़ोगे, त्यों-त्यों शरीरकी चिन्ता संसारको लग जायगी।

— — —

आगेके जन्मका कारण अन्तिम चिन्तन है। 'शरीर' अन्तिम चिन्तनके अनुसार होता है और 'फलयोग' कर्मोंके अनुसार होता है। सब समय अन्तसमय ही है। अन्तसमय हरदम रहता है; क्योंकि ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें मौत न आती हो। यदि अन्तसमयमें भगवान्को याद करना चाहते हो तो हर समय याद करो। जितना समय बीत गया, उसका

अन्त (अन्तसमय) अभी ही है।

ब्रह्म, जीव, जड़, चेतन आदि कोई भी साधक नहीं होता। मनुष्य ही साधक होता है।

हम कुछ भी त्याग न करें—यह आपके वशकी बात है ही नहीं। शरीर, धन आदिका त्याग होगा ही। इनका अपने-आप त्याग होगा तो कल्याण नहीं होगा, पर आप त्याग कर दोगे तो कल्याण हो जायगा।

मेरी बातें आपको अच्छी लगती हैं, पर आपकी कल्याणकी चाहना न हो तो क्या लाभ? भोजन बढ़िया मिले, पर भूख न हो तो क्या लाभ?

— — —

लेना-ही-लेना जड़ता है और देना-ही-देना चेतनता है। देनेमें जड़ताका त्याग है। लेना-ही-लेना पशु, वृक्ष आदिमें है। इनमें कोई भले ही ले ले पर ये देते नहीं। संसारसे भोग और संग्रह चाहना जड़ता है। देना-ही-देना प्रभुका स्वभाव है। लेना और देना—दोनों जिसमें है, वह जीवन है, चिज्जड़ग्रन्थि है।

दो विभाग हैं—'यह' और 'वह'। कामना न 'यह' में है, न 'वह' में है, होनी सम्भव ही नहीं। कामना न मनमें होती है, न बुद्धिमें, प्रत्युत स्वयंमें (सुखके भोगीमें) होती है। भोगी न 'यह' है, न 'वह'; न शरीर है, न आत्मा। जो अनुकूलता चाहता है, प्रतिकूलता नहीं चाहता, वह 'भोगी' है। अत: अपनेको 'यह' से भी हटा ले और 'वह' ('है')-से भी हटा ले। ऐसा करते ही 'भोगी' का नाश हो जायगा। भोगीका नाश होनेपर 'योग' रह जायगा।

आकृति पहले दीखती है तो यह जड़ता है। भाव पहले दीखता है तो यह चिन्मयता है। आकृतिमें लेनेकी इच्छा होती है।

— — —

आपको जो ज्ञान (विवेक) मिला हुआ है, उसका अनादर करोगे तो वह लुप्त हो जायगा। परन्तु उसका आदर करोगे तो वह इतना बढ़ेगा कि शास्त्र और गुरुके बिना भी परमात्मातक पहुँचा देगा। सत्संगसे वह ज्ञान जाग्रत होता है। गुरु वही ज्ञान जाग्रत करता है, जो हमारेमें पहलेसे विद्यमान है। जो हमारेमें विद्यमान नहीं है, ऐसा ज्ञान गुरु दे सकता ही नहीं। मैं आपका ही ज्ञान आपको दे रहा हूँ।

— — —

जिसमें लेनेकी इच्छा नहीं है, उसके द्वारा स्वाभाविक ही देना होता है। भगवान् और उनके भक्त लेते हैं तो देते हैं, देते हैं तो देते हैं। पर सांसारिक लोग देते हैं तो लेते हैं, लेते हैं तो लेते हैं। एक गुना दान करनेसे सौ गुना पुण्य मिलेगा—यह लेना ही है। जो निर्मम-निरहंकार होता है, वह देता-ही-देता है, लेता नहीं।

बन्धन न सत्‌में है, न असत्‌में, तभी मुक्ति होती है। मेरी बात रह जाय—यह लेना है। जबतक 'मेरा' कुछ है, तबतक लेना पड़ेगा। जब शरीर भी मेरा नहीं है तो फिर क्या चाहिये? विचार करें, शरीरसे अलग होकर हमें क्या चाहिये?

त्याग 'मैं' और 'मेरा'—दोनोंका ही होता है। मैं और मेरा—ये दोनों ही माने हुए हैं, वास्तवमें हैं नहीं। दोष न सत्‌में है, न असत्‌में। दोष 'मैं' और 'मेरा' में है। मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि सबमें मैं-मेरापन है।

जबतक शरीरमें मैं-मेरापन है, तबतक जो प्रेम होता है, वह प्रेमका भाग होता है।

— — —

अपना उद्धार करना है, दूसरेको ठेका नहीं लेना है। कोई हमारे अनुकूल चलता है, हमारी बात मानता है—यह हमारे लिये बन्धन है। कारण कि मनुष्य अनुकूलतामें ही फँसता है। बन्धन अनुकूलतामें होता है, प्रतिकूलतामें नहीं। मनुष्यका हित प्रतिकूलतामें है।

जो संतोंके, सज्जनोंके परवश नहीं होता, उसे दुष्टोंके परवश होना ही पड़ेगा। स्वतन्त्रतामें परतन्त्रता और परतन्त्रतामें स्वतन्त्रता भरी हुई है। अच्छे लोग सत्पुरुषोंकी परतन्त्रता चाहते हैं।

— — —

जबतक वस्तु और व्यक्तिसे सुख चाहते हैं, तबतक हम निरपेक्ष नहीं हो सकते। भोग व संग्रहकी कामना रखनेसे फायदा किसी भी तरहका नहीं और नुकसान किसी भी तरहका बाकी नहीं—ये दो बातें याद कर लो।

आप गरीबको एक रुपया देते हैं, वह आपको सौ रुपये देता है (एक गुना दान, सहस्त्र गुना पुण्य) तो फिर बड़े दाता आप हुए या वह?

— — —

आजकल सबको गुरु बननेका शौक है! अनेक गुरु बन गये, अनेक भगवान् बन गये। इससे बड़ी भारी हानि हुई है। साधकके लिये यह पता लगाना कठिन हो गया है कि किसकी बात मानूँ? किसका अनुसरण करूँ? क्या करूँ, क्या न करूँ?

कल्याणप्राप्तिके अनेक उपाया हैं, केवल साधकका उद्देश्य एक होना चाहिये। भोजन तरह-तरहके होते हैं, पर भूख और तृप्ति एक ही होती है। भोजनकी रुचि सबकी अलग-अलग होती है।

वोट-प्रणालीमें मूर्खताकी प्रधानता होती है। जहाँ मूर्ख अधिक होते हैं, वहीं वोट-प्रणाली होती है। वोट-प्रणालीमें भेड़ चरानेवालेका भी एक वोट है और गाँधीजीका भी एक वोट है! ***'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा'***! आजकल यही दशा है।

— — —

घरवालोंकी सेवा करनेसे मोह हो ही नहीं सकता। मोह होता है कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छासे। घरवालोंसे सेवा ली है, इसलिये उनकी सेवा करके कर्जा उतारना है।

भारत पृथ्वीका हृदय है। जैसे कोई भी भाव हृदयमें ही पैदा होता है, हाथ-पैर आदिमें, ऐसे ही भगवान् भारतमें ही अवतार लेते हैं।

भले ही शरीरसे कुछ न कर सकें, पर हृदयसे किसीका बुरा न चाहें तो सेवा शुरू हो गयी।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहम् कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसा मान लो तो इसी क्षण मुक्ति है।

— — —

साधन करनेवालोंकी भगवान्‌की ओर 'गति' होती है। संसारमें प्रवृत्ति (क्रिया) होती है।

जबतक संसारको महत्त्व देते रहोगे, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी। ज्यों-ज्यों राग मिटेगा और संसारसे सम्बन्ध

छूटेगा, त्यों-त्यों शान्ति मिलेगी। जबतक भोग व संग्रहकी रुचि प्रबल रहती है, तबतक शान्ति नहीं मिलती।

भक्ति कभी पूरी अथवा समाप्त नहीं होती। वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। भगवान्‌की तरफ खिंचावका नाम 'भक्ति' है।

— — —

संसारके साथ निषेधात्मक सम्बन्ध ही रखना चाहिये; क्योंकि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। अतः निषेधात्मक साधन बहुत ऊँचा है। भगवान्‌का चिन्तन करेंगे तो संसारका चिन्तन जबर्दस्ती होगा। पर संसारका चिन्तन नहीं करेंगे तो भगवान्‌का चिन्तन स्वतः होगा। चिन्तन करनेसे मनके साथ, देखनेसे आँखके साथ, निश्चयसे बुद्धिके साथ सम्बन्ध जुड़ेगा। कुछ भी चिन्तन न करें तो स्वरूपमें स्थिति स्वतः होगी। चिन्तन स्वरूपके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत मन-बुद्धिके द्वारा होता है।

ज्ञान संसारका ही होता है, परमात्माका नहीं। परमात्माका ज्ञान तो है।

मुक्ति स्वाभाविक है, तभी मुक्ति होती है। बन्धन कृत्रिम है, तभी बन्धन मिटता है।

— — —

भगवान्‌ने अपनेमेंसे सृष्टिको प्रकट किया। उन्होंने अपने लिये मनुष्यकी रचना की और मनुष्यके लिये संसारकी। श्रीजी भी भगवान्‌से प्रकट हुईं। श्रीजी तो भगवान्‌के सम्मुख रहीं, पर जीव भगवान्‌से विमुख होकर खेल-सामग्री (संसार) के सम्मुख हो गया। उनमेंसे जिनकी दृष्टि भगवान्‌की तरफ चली गयी, वे भक्त हो गये, साधक हो गये।

हम भगवान्‌से अलग नहीं हुए हैं, प्रत्युत विमुख हुए हैं। हम भगवान्‌से विमुख हो गये—यह पहला बड़ा पाप हुआ। सांसारिक भोगोंमें सुख लेने लगे—यह दूसरा पाप हुआ।

भगवान्‌ने मनुष्यको अपने लिये उत्पन्न किया है। अतः हम भगवान्‌से कहें कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो वे राजी हो जाते हैं!

— — —

साधकोंके लिये बहुत सावधानीकी जरूरत है कि वह रागपूर्वक प्रवृत्ति न करे और द्वेषपूर्वक निवृत्ति न करे। पैसा कमानेवाला यह नहीं देखता कि यहाँ कोई आदर करता है या नहीं, सुविधा मिलती है या नहीं। वह तो अनादर सहकर, कष्ट सहकर भी पैसा कमाता है। इसी तरह साधक सब कुछ सहकर भी साधन, सत्संग करता रहे। अपनी दृष्टि सत्संग-लाभपर रखे।

जो वस्तुओं और व्यक्तियोंसे सुख भोगना चाहते हैं, वे भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकते! सुखभोगकी इच्छा ही पाप है!

बुद्धिमें विवेककी प्रधानता (दृढ़ता) होनी चाहिये, जिससे वह मनको अपने वशमें रख सके।

संग्रहकी रुचिसे भी भोगकी रुचि प्रबल होती है।

ईमानदारीसे कमाये रुपयोंके दानसे ही शुद्धि आती है। अन्यायसे कमाये पूरे-के-पूरे रुपयोंका भी दान कर दो तो भी पाप नष्ट नहीं होंगे।

— — —

भगवत्प्रेमके लिये अपनेपन की जरूरत है। दर्शनोंके लिये उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है।

अपना कल्याण चाहनेवालेके लिये सबसे पहली बात है—संसारसे ऊँचा उठ जाय अर्थात् भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग कर दे। इससे भी पहली बात है कि संसारके सुख अच्छे ही न लगें।

सारा संसार '**मैं-पर**' में भरा है! संसार माया नहीं है, प्रत्युत मैं-मेरा ही माया है—***'मैं अरु मोर तोर तैं माया'*** (मानस, अरण्य० 15। 1)। यह माया भगवान्‌की नहीं है, जीवकी है। जीवकृत सृष्टि भी बाँधती है। भगवान्‌की चीजपर कब्जा करनेसे भगवान् नाराज होते हैं। भगवान्‌की चीजको अच्छी तरहसे रखना है, उसका दुरुपयोग नहीं करना है।

कई स्त्रियाँ खड़ी हों तो आप बता नहीं सकते कि किस बालककी कौन-सी माँ है; क्योंकि मेरापन हमारा माना हुआ है।

— — —

जीवन्मुक्ति हुई कि नहीं हुई—यह पता लगाना नहीं पड़ता। सूर्य निकला कि नहीं निकला—इसके लिये टार्च लानेकी जरूरत नहीं पड़ती। भोजन करनेपर तृप्ति हुई कि नहीं हुई—इसकी कोई कसौटी नहीं लानी पड़ती।

— — —

जिसे तत्त्वज्ञान हो गया, उसे हम भगवान् नहीं मान सकते। **'जगद्व्यापारवर्जम्'** (ब्रह्मसूत्र 4। 4। 17)। भगवान् समुद्र हैं, सन्त-महात्मा बादल हैं—***'राम सिंधु घन सज्जन धीरा'*** (मानस, उत्तर० 12। 9)। समुद्र समुद्र ही है। सन्त-महात्माको भगवान् अथवा अवतार कहनेमें उनकी अधिक महिमा नहीं है, प्रत्युत सन्त-महात्मा कहनेमें ही महिमा है। मनुष्य होकर सन्त-महात्मा बन गये—इसमें महिमा है।

हनुमानजी द्रोणाचल पर्वतको उठा लाये, पर उनको कोई गिरधारी नहीं कहता। परन्तु उसी द्रोणाचल पर्वतके एक टुकड़े गोवर्धनको उठानेसे भगवान् गिरधारी कहलाने लगे! भगवान् कोई छोटा काम भी करें तो उनकी बड़ी महिमा होती है। कारण कि बड़ा आदमी छोटा काम करे तो उसकी बड़ी महिमा होती है।

त्यागसे अपनेमें बड़प्पन दीखता है तो यह त्याज्य वस्तुका बड़प्पन है, अपना नहीं! मलका त्याग करनेपर क्या त्यागका अभिमान आता है?

तेजीका वैराग्य होनेसे भी रसबुद्धि निवृत्त हो सकती है। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर रसबुद्धि निवृत्त हो ही जाती है—**'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता 2। 59)। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है—यह नियम है। परन्तु जहाँ अग्नि होती है, वहाँ धुआँ होता है—यह नियम नहीं है।

तत्त्वज्ञान होनेपर भी जल्दी सन्तोष नहीं होता। जैसे, तत्त्वज्ञान होनेपर भी शुकदेवजीको सन्तोष नहीं हुआ तो व्यासजीने उनको जनकजीके पास भेजा। वहाँ जानेपर उनका वहम मिट गया।

श्रोता—तत्त्व क्या है?

स्वामीजी—तत्त्व है—'**है**'। '**है**' के सिवाय कुछ तत्त्व नहीं। मैं-तू-यह-वह नहीं रहता, पर '**है**' रहता है। '**है**' का ध्यान सबसे सुगम है और सबसे श्रेष्ठ है। '**है**' के ध्यानकी बहुत महिमा है। हरदम इस '**है**' को याद रखो। संसार नहीं है, '**है**' ही है।

प्रेममें भगवान्‌को खींचनेकी ताकत है—*‘प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन पाहन तें परमेस्वरु काढ़े’*। भगवान्‌के वशमें प्रेम नहीं है, पर प्रेमके वशमें भगवान् हैं। प्रेम भगवान्‌से भी विलक्षण है।

— — —

जो होता है, वह असली भजन होता है। जो करते हैं, वह नकली भजन होता है। आप भगवान्‌के हो जायँ तो भगवान्‌का असली भजन होगा। अभी तो साधककी यह दशा है कि भगवान्‌को याद करते हैं, संसारका चिन्तन होता है।

शरणागति सबसे श्रेष्ठ है। गीताका सार शरणागति है। आज ही यह स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के हैं। अपवित्रता इसीलिये है कि हमने अपनेको भगवान्‌का नहीं माना।

— — —

एक तरफ संसार है और एक तरफ परमात्मा। जीव जिसे पसन्द करता है, भगवान् उसे वस्तु दे देते हैं। यदि वह भगवान्‌को पसन्द कर ले तो उसका कल्याण हो जाय। परन्तु वह संसारको पसन्द करता है और बँध जाता है—*‘सो मायाबास भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥’* (मानस, उत्तर० 117। 2)। पढ़े-लिखे लोग तोतेकी तरह बँधते हैं और अपढ़ लोग बन्दरकी तरह! पाँच विषय, मान, बड़ाई और आराम—इन आठोंको पसन्द करके ही मनुष्य बँधता है। यदि मनुष्य इनको पसन्द न करे तो बन्धन नहीं होगा।

भगवान् परम दयालु हैं। उनकी माया कभी किसीको नहीं फँसाती। उनकी मायाको अपनी मानकर हम ही फँस जाते हैं। जिन वस्तुओंको हम अपनी मान लेते हैं, उन्हींसे बन्धन होता है। बन्धन जीवकृत सृष्टिसे होता है, ईश्वरकृत सृष्टिसे नहीं। जीवकृत सृष्टि है—‘मैं’ और ‘मेरा’।

संसारमें रबड़की गेंदकी तरह रहो, मिट्टीका लौंदा मत बनो। जो चिपकता है, वही फँसता है। गेंद किसीसे नहीं चिपकती। सेवा सबकी करो, पर कहीं चिपको मत।

— — —

किसीकी भी निन्दा न करके अपनी उपासना ठीक तरहसे करो। साधनका भेद भले ही हो, पर प्रीतिका भेद न हो। सबके साथ प्रेमका बर्ताव हो। सबके कल्याणका समान भाव हो।

जब हम सबकी बात नहीं मानते, फिर दूसरा हमारी बात न माने तो हम नाराज क्यों हो?

जैसे भिक्षा लेते समय किसी मुसलमानका घर आ जाय तो उसे हम छोड़ देते हैं, ऐसे ही जो बात समझमें न आये, उसे छोड़ दो और जो समझमें आये, उसे करना शुरू कर दो। परीक्षा देते समय भी विद्यार्थी यही करता है कि जो उत्तर उसे आता है, उसे पहले लिखना शुरू कर देता है। जो उत्तर नहीं आये, उसे लेकर बैठा रहेगा तो फैल हो जायगा।

— — —

सन्तोंकी पहचान कोई कर नहीं सकता। जिनके संगसे हमें लाभ हो, दैवी सम्पत्ति आये, भगवान्‌की याद आये, जीवन निर्मल हो जाय, बिना पूछे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाय, शंकाओंका समाधान हो जाय, मनमें शान्ति हो जाय तो हमारे लिये वही सन्त हैं। हम सन्तोंकी परीक्षा नहीं कर सकते, पर अपनी परीक्षा कर सकते हैं कि हमारेपर क्या असर पड़ा? जो हमसे कुछ भी चाहता है, वह हमारा गुरु कैसे हो सकता है?

— — —

जिन्होंने अपना काम ठीक नहीं किया है, वही मरनेसे डरते हैं। जैसे, जिन्होंने अपना काम ठीक नहीं किया, वही विद्यार्थी परीक्षामें मुँह छिपाते हैं!

किसीका भी बुरा सोचना, समझना और करना मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है। मनुष्य भलाई करके भला नहीं बनता, प्रत्युत बुराई छोड़नेसे स्वतः भला बन जाता है। भलाई करना कठिन है, पर बुराई न करनेमें क्या कठिनता है? इसमें किस बल, योग्यता आदिकी आवश्यकता? किसीका बुरा न सोचें, न समझें, न करें तो क्या बाधा लगती है? इसमें क्या जोर आता है?

सबको दण्डवत् प्रणाम करनेकी अपेक्षा भी बढ़िया है—किसीका बुरा न सोचें, न समझें, न करें। कोई बुरा करता दीखे तो समझो कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। ऊपरसे बुराई दीखती है, भीतरसे वही परमात्मा हैं। बुराई आगन्तुक दोष है। कुत्ता घरमें आ जाय तो क्या वह घरका मालिक बन गया?

— — —

मनुष्यशरीर अन्तिम जन्म है। अब जैसा चाहोगे, वैसी गति हो जायगी। यह स्वतन्त्रता मनुष्यशरीरमें ही है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (गीता 8। 6)

'हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

— — —

कामना स्वाभाविक नहीं है। जैसे व्यसनका त्याग कठिन हो जाता है, ऐसे ही कामनाका त्याग कठिन हो रहा है। हमें व्यसनोंकी तरह कामना, ममता, तादात्म्यकी आदत पड़ी हुई है।

शरीरकी जरूरतका नाम 'कामना' है और शरीरकी जरूरतका नाम 'आवश्यकता' है। कामना पूरी होनेवाली नहीं होती, प्रत्युत मिटनेवाली होती है। कामना मिटते ही आवश्यकता पूरी हो जाती है।

जड़ता कामनापर टिकी हुई है। कामनाका त्याग होते ही जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

— — —

हमारे यहाँ 'शुद्धि' देखी जाती है, अँगेजोंके यहाँ 'सफाई' देखी जाती है!

यदि हम किसीकी बुराई कहना, सुनना, समझना त्याग दें तो हम अपने-आप भले हो जायँगे।

संसारकी प्राप्ति और परमात्माकी अप्राप्ति—ये दोनों आपकी दृष्टिमें हैं।

बुराई न करना—यह निषेधात्मक साधन है। दवा लेनेकी अपेक्षा कुपथ्यका त्याग करना सुगम पड़ता है।

— — —

माँकी कृपा सबकी कृपासे विलक्षण होती है। भोजन हम करें और माँ प्रसन्न हो जाय! ऐसे ही सन्तोंकी कृपा भी

विलक्षण होती है। उद्धार हमारा हो और सन्त प्रसन्न हो जायँ! उन्नति हमारी होती है, राजी वे होते हैं! माल हमें मिलता है, राजी माँ होती है!

पासमें धनके रहते हुए मनुष्य सन्त बन सकता है, पर जिसके भीतर धनकी लालसा है, वह सन्त नहीं बन सकता। अम्बरीष आदि राजा भी भक्त हुए हैं।

जो सब जगह व्याप्त हैं, वे परमात्मा ही हमारे हैं। जो दीखता है, वह (संसार) हमारा नहीं है। उत्पन्न और नष्ट होनेवालेकी तरफ हमारा मन खिंच गया—यह बड़ा दोष है, बड़ी हानि है!

— — —

सुखी-दुःखी होना कर्मोंका फल नहीं है। कर्मोंका फल परिस्थिति है, जो जीवन्मुक्तके सामने भी आती है। यदि सुख-दुःख कर्मोंके फल होते तो जीवन्मुक्तको भी सुख-दुःख होते।

जो सुख चाहता है, उसीको दुःख मिलता है। सुखकी आशा, कामना और भोग करनेवालेको दुःख भोगना ही पड़ेगा। दुःख क्या है? सुख चाहना ही दुःख है।

पहले प्रक्रिया-ग्रन्थ पढ़कर फिर गीताको पढ़ोगे तो गीता समझनमें बाधा लग जायगी। आपकी जैसी धारण होगी, वही गीतामें दीखने लग जायगी।

कैदीका लक्षण क्या है? काम करे और मर्जीसे और उसका फल (दुःख) भोगे दूसरेकी मर्जीसे। जबतक तत्त्वज्ञान न हो, तबतक सब मनुष्य कैदी हैं।

वास्तवमें जाति-धर्म ही धर्मकी जड़ है। कलियुगका सर्वप्रथम लक्षण बताया है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।। (मानस, उत्तर० 98। 1)

शास्त्रोंकी बातें जल्दी समझमें नहीं आतीं। जो जाति-व्यवस्था नहीं मानते, उनमें शास्त्रोंको समझनेकी अक्ल नहीं है।

— — —

संसारका उद्‌देश्य रहेगा तो कभी शान्ति नहीं मिलेगी। सुख-सुविधाका ख्याल रहेगा तो शान्ति नहीं मिलेगी। परमात्मासे विमुख होनेपर इतने दोष पैदा होंगे, जिसका कोई ठिकाना नहीं! इतने अनर्थ होंगे, इतनी आफतें आयेंगी, जिसको सोच भी नहीं सकते!

भीतरमें लोभ नहीं होगा तो आवश्यक वस्तु अपने-आप आयेगी। यदि लोभ होगा तो आवश्यक वस्तु भी नहीं मिलेगी। जिसकी भीतर 'खाऊँ-खाऊँ' लगी रहती है, उसके पास आनेसे वस्तु भी डरती है!

भोगेच्छा अधिक होगी तो पहले जो राक्षस सुने गये हैं, उनसे भी तेज राक्षस हो जायगा! पहलेके राक्षस ब्रह्माजी, शिवाजी आदिपर, मन्त्र-जप, तपस्या आदिपर श्रद्धा रखते थे, पर आजकल उतनी भी श्रद्धा नहीं रखते।

— — —

मनुष्य घरमें रहते हुए, घरका काम करते हुए सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं कर सकता—यह वहम गीताने मिटा दिया है। गीता व्यवहारमें परमार्थकी कला बताती है।

मुझे सुख-आराम मिले—यह जड़ता है। दूसरेको सुख-आराम मिले—यह चिन्मयता है।

बड़ा वह है जो दूसरोंको बड़ा बनाता है। जो दूसरोंको छोटा बनाता है, वह गुलाम है।

गायको सूई लगाकर दूध लेना उसका रक्त लेनेकी तरह है। आजकल गर्भपात-जैसे भंयकर महापाप हो रहे हैं। ये बातें सुननेकी अपेक्षा तो मर जाना अच्छा है।

— — —

सत्संग करनेसे संसारका काम बढ़िया होता है। बाहरसे साधु बननेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् भावग्राही हैं। स्वार्थका, लेनेका भाव ही पतन करनेवाली चीज है। चाहे साधु हो या गृहस्थ, लेनेकी इच्छा ही पतन करनेवाली है। भोग तथा संग्रहकी इच्छा ही बाधक है। यदि बाहरसे वस्तु-व्यक्तियोंके त्यागसे कल्याण होता हो तो मरनेवाले सबका कल्याण होना चाहिये।

लेना-ही-लेना पशुओंका, देना-ही-देना भगवान्‌का और लेना-देना मनुष्योंका होता है। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर दे, वह साधक होता है।

समर्थ वह है, जो दूसरोंकी असमर्थता दूर करके उन्हें समर्थ बनाये। दूसरोंको असमर्थ बनानेवाला समर्थ नहीं होता।

सन्तोष, काम, क्रोध और लोभ—तीनोंको नष्ट करता है।

— — —

क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-रहित होना ही मुक्ति है। संसार 'मैं' से पैदा होता है। 'मैं' प्रकृतिका और 'हूँ' परमात्माका है। 'मैं' परा प्रकृति है और 'हूँ' अपरा प्रकृति है। मैं-मेरा ही माया है, जो जीवकृत है। इस जीवकृत सृष्टिसे ही बन्धन होता है। 'मैं' न रहे तो 'है'-तत्त्व रहेगा, 'हूँ' नहीं रहेगा। संसारमें 'है' नहीं है, प्रत्युत 'है' में संसार है। इस 'है' में स्थित हो जायँ। 'है' में स्थिति ही मुक्ति है।

वस्तुके बाद 'है' नहीं है, प्रत्युत 'है' के बाद वस्तु है।

श्रोता—सुषुप्ति और समाधिमें क्या फर्क है?

स्वामीजी—सुषुप्तिमें वृत्तियाँ लीन होती हैं, पर समाधिमें वृत्तियोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है।

— — —

संसारमात्रमें जड़ और चेतन—ये दो विभाग हैं। जड़के साथ चेतन है, पर चेतनके साथ जड़ नहीं है; क्योंकि जड़की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

सम्पूर्ण सृष्टि स्वाभाविक एक-दूसरेके लिये है। इसे केवल अपने लिये मान लेना खास गलती है। सभीका जीवन दूसरेके लिये है, अपने लिये नहीं। साधु गृहस्थके लिये है, गृहस्थ साधुके लिये है। ऐसे ही वर्णोंमें भी सब वर्ण एक-दूसरेकी पूर्तिके लिये हैं, अपने सुखभोगके लिये नहीं। मनुष्यजीवन दूसरोंको सुख देनेके लिये है। दूसरोंको सुख देनेसे आपको आनन्द मिलेगा। दूसरके जीवनको अपने लिये न मानें, प्रत्युत अपना जीवन दूसरके लिये मानें। माता-पिता बालकके लिये हैं। बालक माता-पिताके लिये है। इस भावसे व्यवहार भी बढ़िया होगा और कल्याण भी हो जायगा। हम असंग हो जायँगे।

साधक वह होता है, जो लेनेकी इच्छाका त्याग करता है। केवल व्याख्यान देनेसे कल्याण नहीं होता, हमारा जीवन वैसा होना चाहिये।

अभी जो समय मिला है, वह भजन करनेके लिये है। फिर न जाने क्या हो जाय! अभीसे भगवान्‌में लग जाना चाहिये। एक अँगुली कट जाय तो पुन: नहीं मिलती तो क्या मानवशरीर पुन: मिल जायगा? उसमें भी सत्संगका मौका मिलना बहुत दुर्लभ है।

भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता 4। 11); परन्तु रुपये ऐसा नहीं कहते। ऐसा होने पर भी आप रुपये कमा लेते हो तो क्या भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकते?

— — —

परमात्मप्राप्ति प्रारब्धके अधीन नहीं है। परमात्मप्राप्तिकी चाहना तब पूरी होगी, जब संसारकी कोई कामना नहीं रहेगी।

जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते, ऐसा विलक्षण आनन्द इसी जन्ममें प्राप्त हो सकता है। परमात्मप्राप्ति ही मनुष्यजन्मका वास्तविक फल है। इसके सिवाय धन आदि कुछ काम नहीं आयेंगे। वे दुर्गति करने, विपत्ति देने, दु:ख देनेमें ही काम आयेंगे, कल्याणके काम नहीं आयेंगे।

— — —

जैसे हम शरीरके किसी भी अंगकी पीड़ा नहीं चाहते, सभी अंगोंमें आराम चाहते हैं, ऐसे ही संसारके प्रति भी भाव हो। अथवा जैसे संसारके सुख-दु:खकी परवाह नहीं होती, ऐसे ही अपने शरीरकी भी परवाह न हो। कारण यह है कि संसार और शरीर एक तत्त्व हैं। शरीर और संसारको अलग-अलग मानना अज्ञान है, भूल है।

अपने शरीरकी अपेक्षा भी संसारकी ज्यादा परवाह करें, तब समता आ जायगी। यदि शरीर तथा संसारकी समान परवाह करोगे तो शरीरका पक्षपात आ जायगा; क्योंकि पहलेसे ही ऐसी आदत पड़ी हुई है।

वैद्य सबको एक ही दवा नहीं देता, प्रत्युत यथायोग्य दवा देता है तो यह उसकी विषमता नहीं मानी जाती। सबके प्रति हितबुद्धि होनी चाहिये।

— — —

गीताने भगवान्‌का समग्र-रूप बताया है। अपना वर्णन करनेमें स्वयं भगवान् भी असमर्थ हैं; क्योंकि वे अनन्त, अपार, असीम हैं। वे लौकिक-अलौकिक सब कुछ हैं। भगवान् गोपाल छोटे-से होनेपर भी कितने बड़े हैं—इसका पता नहीं लगा सकते। उनके छोटे-से मुखोंमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं।

हम भगवान्‌को जैसा सगुण या निर्गुण मानते हैं, वे वैसे सगुण या निर्गुण नहीं हैं। यदि वे वैसे ही होते तो यह मानना पड़ता कि हमें उनका ज्ञान हो गया! जो कि सर्वथा असम्भव है।

भगवान्‌को कोई 'नराकार' कहता है, कोई 'निराकार' कहता है और कोई 'नीराकार' (गंगा-रूप) कहता है! भगवान् सब कुछ हैं।

जब अग्नि, जल आदि भी साकार और निराकार दोनों हो सकते हैं तो क्या भगवान् उनसे भी कमजोर हैं कि साकार नहीं हो सकते?

मिश्री मिठी है, पर कैसी मीठी है—यह वर्णन नहीं कर सकते, फिर परमात्माका वर्णन कैसे कर सकते हैं? परमात्माको जान नहीं सकते, पर मान करके प्राप्त कर सकते हैं। अपने मानवजीवनको पूर्ण कर सकते हैं। जीवन्मुक्त हो सकते हैं।

— — —

अपने लिये करना राक्षसी स्वभाव है। मनुष्यशरीर केवल दूसरोंके लिये हैं। सृष्टिकी रचना इसी ढंगसे हुई है। भगवान् भी नर-नारायणरूपसे सबके हितके लिये तप करते हैं। सब वर्ण, आश्रम आदि केवल दूसरोंके हितके लिये हैं। मुक्ति भी अपने लिये नहीं है, दूसरोंके लिये है। खाना-पीना भी अपने लिये नहीं है। शरीरकी क्रियाएँ भी शरीरके हितके लिये हैं, अपने लिये नहीं।

अपना जीवन इस तरह बनाओ कि प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये हो। इससे प्रेमकी वृद्धि होगी। यह भारतीय संस्कृति है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। (गीता 3। 11)

'तुमलोग एक-दूसरेको उन्नत करते हुए परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

भगवान् श्रीरामने अंगदको रावणके पास भेजते समय कहा—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई।। (मानस, लंका० 17। 4)

अपना-अपना सुख चाहेंगे तो सभी दुःखी हो जायँगे। छोटी-से-छोटी क्रियामें भी दूसरेके हितका भाव हो। सबके हितके लिये कर्म करनेवालेका अहित हो ही नहीं सकता। सबके हितका भाव होनेसे स्वतः त्याग होगा।

घरमें 'मैं करूँ, मैं करूँ'—यह भाव हो जाय तो काम कम और व्यक्ति ज्यादा हो जायँ! यदि 'तू कर, तू कर'—यह भाव हो जाय तो काम ज्यादा और व्यक्ति कम हो जायँ, फिर नौकर रखना पड़े!

— — —

अपने लिये कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। जो करे, दूसरोंके लिये करे। यह मनुष्यलोक दूसरोंकी सेवाके लिये ही है। यह मनुष्यलोक मध्यमें है, जिससे यह स्वर्ग-पातालके सब जीवोंकी सेवा कर सके। अपना सुख चाहनेसे सुख नहीं होता। अपना हित चाहनेसे हित नहीं होता। यह सृष्टि-रचनाकी एक विलक्षणता है, जो भारतवर्ष ही जानता है। औरोंको इसका पता नहीं है!

अपने पास जो कुछ है, वह अपने लिये नहीं है—**'इदं ब्रह्मणे न मम'**। अपने लिये सुख चाहना राक्षसी प्रवृत्ति है—**'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** (गीता 3। 13।)। बिना कारण सिर काटनेवाले इन्द्रको भी दधीचीने अपनी हड्डियाँ दे दीं! यह भारतीय संस्कृति है!

धनी व्यक्ति धर्मका ज्यादा पालन नहीं कर सकता। गरीब जितना दान कर सकता है, उतना धनी नहीं कर सकता। चींटीमें जितना बल होता है, उतना हाथीमें नहीं होता।

साधुको धनीके पास जानेकी क्या जरूरत है? कोई जरूरत नहीं है। हमें धनियोंसे भिक्षा मिलती है तो हमारा भाग्य फूटा है! धनके मदसे अन्धे क्या दान-पुण्य करेंगे?

— — —

'संसार है'—यह 'नहीं' में 'है'-बुद्धि है। वस्तुत: 'है' में संसार है। सजातीय इन्द्रियाँ-अन्त:कारणसे ही संसार दीखता है। स्वयंसे 'है' दीखेगा।

निर्जीव वस्तुका भी निरादर, अपमान, तिरस्कार मत करो। निरादर करनेसे निर्जीव वस्तु भी नष्ट, खराब हो जाती है। किसीका भी अपमान करोगे तो भगवान् राजी नहीं होंगे; क्योंकि सब भगवान्‌का ही विराट्‌रूप है।

निर्दोषता नित्य है। निर्दोषताके बिना दोष दीखता ही नहीं। जिससे दोष दीखता है, वह निर्दोष है। जो हमसे दूर है, वही दीखता है। सत्‌से ही असत् दीखता है।

— — —

भारतवर्षमें पैदा होकर भी मनुष्य भगवान्‌में नहीं लगते—इसका मुझे बड़ा आश्चर्य होता है! ऋषि-मुनियोंकी सन्तान होनेसे यहाँके मनुष्योंकी बुद्धि बहुत विचित्र है, पर आज वे रुपयोंमें लग गये! भारतमें इतनी जड़ी-बूटियाँ मिलती है, जिससे वह संसारमात्रको नीरोग कर सकता है।

— — —

सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण पापोंका आधार है। सुखकी इच्छा होनेसे होश नहीं रहता और मनुष्य पाप कर बैठता है। सुखकी इच्छासे व्यवहार और परमार्थ—दोनों बिगड़ते हैं। ऐसा कोई दोष, अवगुण नहीं है, जो इससे पैदा न होता हो।

यदि वस्तु अपनी है तो क्या सदा साथ रहेगी? वह अपने लिये है तो क्या उसके मिलनेसे हमारी तृप्ति हो गयी? यदि अपनी असली वस्तु मिल जायगी तो फिर अनय किसीकी इच्छा नहीं रहेगी। यदि इच्छा रहती है तो हमारी वस्तु हमें मिली नहीं। हमारी असली वस्तु परमात्मतत्त्वकी है। उसीकी प्राप्तिके लिये यह सत्संग है।

भोगी खुद बनना चाहते हैं और त्यागी दूसरोंको देखना चाहते हैं—यह गलती है। आप उसे वस्तु देना चाहते हैं, जो त्यागी हो, तो फिर आप त्यागी क्यों नहीं हो जाते?

— — —

ज्ञान किसीके अधीन नहीं है। यदि ज्ञान किसी व्यक्ति, ग्रन्थ आदिके अधीन होता तो 'मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है'—यह बात कैसे सिद्ध होती? जो चाहे, उसीको ज्ञान हो सकता है। पापी-से-पापीको भी ज्ञान हो सकता है—

अपि चेदसि पापेभ्य: सर्वेभ्य: पापकृत्तम:।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। (गीता 4। 36)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा नि:सन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'।

जो शरीर, वर्ण-आश्रमको लेकर अपनेको ऊँचा मानता है, उसे तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है? तत्त्वज्ञान जड़ताके

द्वारा नहीं होता, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होता है। साधु-संन्यासी, गृहस्थ, ब्रह्मचारी आदिको ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत जिज्ञासुको ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञानमें बाधक है—अभिमान और कामना।

जिसे धनकी चाहना है, वह धनसे नीचा है। जो धन, विद्या, बल, बुद्धि, योग्यता आदिको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, वह नीचा होता है। जिसकी हमें गरज होती है, उससे हम नीचे होते हैं। जो भगवान्‌की गरज या चाहना करता है, वह भगवान्‌से नीचा होता है, और जो भगवान्‌से नीचा होता है, वह संसारसे ऊँचा होता है।

भगवान् किसीको भी अपनेसे नीचा नहीं बनाते—***'यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई'***। (विनय० 165। 5)। जो भगवान्‌की गरज करता है, उसे भगवान् अपनेसे ऊँचा बनाते हैं!

संसारकी इच्छा रहनेसे ही परमात्माकी इच्छा करनी पड़ती है। संसारकी इच्छासे न संसार मिलता है, न परमात्मा। संसारकी इच्छा मिटनेपर परमात्माकी प्राप्ति स्वतः है। संसार और परमात्मा—दोनोंकी इच्छाएँ जड़ताकी इच्छापर अवलम्बित हैं। हृदयसे नाशवान्‌का महत्त्व निकला कि परमात्माकी प्राप्ति हुई!

जो निरन्तर आपसे अलग हो रहा है, उसीसे अलग होना है। जो सदा प्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है।

संसारकी जिस चीजको आप बड़ी मानते हैं, उसका बड़प्पन यही है कि आपको परमात्मप्राप्ति नहीं होने देगी और खुद रहेगी नहीं!

परमात्मा जितने सस्ते हैं, उतनी मौत भी सस्ती नहीं है!

जो रहेगा नहीं, उसके रहनेकी इच्छा छोड़ दो। नाशवान्‌की इच्छासे जितना नुकसान होता है, उसका कोई पार नहीं पा सकता। फायदा कुछ भी नहीं, नुकसान कुछ भी बाकी नहीं!

अपनी धारणासे ही हम परमात्मप्राप्तिसे वंचित हैं। यहाँसे मिली चीज यहाँ ही वितीर्ण करनेके लिये है।

विचार करें। रुपये मिल जायँ—इस इच्छासे क्या रुपये मिल जायँगे? रुपये बने रहें—इस इच्छासे क्या रुपये बने रहेंगे?

उद्देश्य बननेसे साधन स्वतः होता है। जैसे, इनकम-टैक्ससे बचनेका उद्देश्य होता है तो तरह-तरहकी चोरी करना स्वतः सीख जाते हैं।

— — —

अपने इष्टको सर्वोपरि समझना चाहिये और तत्त्वसे सबको एक समझना चाहिये। भगवान्‌को किसी नाम-रूपसे मानें, भगवान् एक ही हैं। संसारमात्रका उपास्य-तत्त्व एक ही परमात्मा हैं।

भगवान् साक्षात् प्रकट हों या स्वप्नमें अथवा ध्यानमें प्रकट हों, वे एक ही हैं। अवस्था हमारेमें है, भगवान्‌में नहीं। भगवान् सभी अवस्थाओंमें हैं। अवस्थाएँ हमारी दृष्टिमें हैं।

यदि 'है'-रूपसे परमात्माको ही मानें तो कौन-सा रूप बाकी रहा? संसारमें भी 'है' रूपसे परमात्मा ही हैं। सत्तारूपसे केवल परमात्मा ही हैं। वही परमात्मा अनेक रूपसे हैं। अनेक रूपोंमें भगवान् तथा उसका लोक (साकेत, गोलोक आदि) एक ही है। भक्तकी निष्ठा, रुचिसे भेद होता है।

साधक यही खयाल रखे कि नाशवान्‌का चिन्तन न हो। मनमें जो भी ध्यान आये, उसे भगवान्‌का ही रूप माने।

ऐसा मान ले कि मनमें जो भी रूप आयेगा, वह भगवान्‌का ही रूप होगा और मन जहाँ भी जायगा, भगवान्‌में ही जायगा।

सबमें एक परमात्माको देखनेवाला 'समदर्शी' है। वह समरूपसे परमात्माको देखता है। वह सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है। पर निरादर किसीका भी नहीं करता। उसे पूरे शरीरका आराम सह्य है, पर पीड़ा किसी भी अंगकी सह्य नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामको बड़ा कहा, पर छोटा किसीको नहीं कहा। बड़ा कहनेमें दोष नहीं है, दूसरेको छोटा कहनेमें दोष है।

— — —

अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य खुद ही कारण है, इसीलिये भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (गीता 6। 5)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

यदि अपने उद्धार और पतनमें दूसरा कारण होगा तो उद्धार कभी हो सकेगा नहीं। वास्तवमें दूसरा सुख-दुःख दे सकता ही नहीं। अपने ही किये हुए कर्मोंके फलसे परिस्थिति आती है। दूसरेको सुखदायी-दुःखदायी मान लेना गलती है।

आपके माने बिना गुरु उद्धार कैसे करेगा? आप गुरुको स्वीकार करोगे, तभी उद्धार होगा। अनादिकालसे सन्त होते आये हैं, भगवान्‌के अवतार भी अनेक हुए हैं, फिर आपका उद्धार क्यों नहीं हुआ? क्योंकि आप उनके सम्मुख नहीं हुए, आपने उन्हें स्वीकार नहीं किया।

सत्संग कर्मका फल नहीं है। यह कृपासे अथवा अपने उद्योगसे मिला है। आपका अपना विचार न हो तो सुबह उठकर कौन सत्संगमें आये?

मनचाही किसीकी नहीं होती। यदि चोर-डाकूकी मनचाही हो जाये तो क्या वे किसीके पास धन रहने देंगे? जो वस्तु हमारी है, उसे कोई दूसरा नहीं ले सकता।

जन्म-मरणका कारण गुणोंका संग है, वह आप ही करते हो। पाप-पुण्य भी आप करते हो। विधाता पाप-पुण्यका फल देता है तो कृपापूर्वक ही देता है।

संग्रह करनेकी इच्छासे संग्रह नहीं होता, फिर संग्रहकी इच्छ्ज्ञ करें ही क्यों? इच्छा न करनेपर भी आनेवाली वस्तु आयेगी ही।

— — —

सुननेवालों की श्रद्धा-भक्तिसे कहनेवालेको शक्ति मिलती है।

हिन्दुधर्म एक वैज्ञानिक संस्कृति है। भगवान्‌ने भी इसको उत्पन्न नहीं किया है। वे इसके रक्षक हैं। ऋषि भी मन्त्रोंके द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। वर्णाश्रमकी व्यवस्था वैज्ञानिक है। हिन्दु-संस्कृतिके मूलमें कोई व्यक्ति नहीं है। यह

स्वाभाविक धर्म है, सनातन धर्म है, अनादि धर्म है।

जो स्वतःसिद्ध वास्तविक ज्ञान है, उसका नाम 'वेद' है। वह ज्ञान पैदा नहीं होता। हम गणित, व्याकरण, संगीत आदि सीखते हैं तो उस विषयमें हमारा ज्ञान जाग्रत होता है, पैदा नहीं होता। गुरु शिष्यको ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत शिष्यके भीतर विद्यमान ज्ञानको ही जाग्रत् करता है।

जो विचारके द्वारा न मिटा सकें, उसे करके मिटा दें, इसलिये गृहस्थमें जाते हैं।

नेता, गुरु और शासक—तीनों अलग-अलग होते हैं। नेता शासक नहीं बन सकता।

जो बूढ़े होकर, साधु होकर भजन नहीं करते, उनपर भगवान्‌को बड़ा क्रोध आता है। बेटा-बेटीका विवाह हो जाय तो भजनमें लग जाना चाहिये।

— — —

कुछ 'करने' से उद्धार होगा—यह बात सच्ची नहीं है। उद्धार स्वतः है, जन्म-मरण (बन्धन) आगन्तुक है। मुक्ति स्वाभाविक है। अस्वाभाविकताको मिटाना है। काम-क्रोधादि हमारेमें हैं—यह मत मानो, इतनी ही बात है! यदि ये हमारेमें होते तो हरदम रहते। जबतक हम रहते, तबतक मिटते नहीं। दोष हमारेमें नहीं हैं। ये हमारेमें नहीं हैं, तभी मिटते हैं।

हमारेमें दोष नहीं हैं—इतना माननेसे उनकी जड़ कट गयी। कोई भी दुर्गुण-दुराचार सबमें सदा नहीं रहता और सबके लिये नहीं रहता। हमारेमें दोष नहीं है—यह सच्ची बात है। सच्ची बातको स्वीकार कर लो—यह सत्संग हो गया। गीतामें आया है—

विषया विनिवर्तनते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ (गीता 2। 59)

'निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता। परन्तु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेसे इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका रस भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।'

विषय निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता—यह तत्त्व नहीं है, प्रत्युत साधककी अवस्था है। जो स्वयंमें होता है, वह कभी निवृत्त नहीं होता। मिटता वही है, जो नहीं है। यदि रस हमारेमें होता तो कभी निवृत्त नहीं होता। परन्तु स्वयं तो रहता है, पर रस निवृत्त हो जाता है—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**'।

सबका अनुभव है कि काम-क्रोध कम होते हैं, पर आप कम होते हैं क्या? जो कम होता है, वही मिटता है। त्याग आगन्तुकका ही होता है। मेरेमें दोष नहीं हैं—यह स्वीकार करनेकी आपमें पूरी सामर्थ्य है।

श्रोता—अपनेमें असमर्थता दीखती है!

स्वामीजी—जो चीज दीखती है, वह आपसे दूर होती है। वह न आपमें है, न आपके नजदीक है। जो चीज अपनेमें होती है, वह दीखती नहीं—'**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**' (बृहदा० 2। 4। 14) सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?'।

हनुमान्‌जीकी तरह आप अपने सामर्थ्यको भूल हुए हैं! आपकी अपने सामर्थ्यकी तरफ दृष्टि नहीं है। हनुमान्‌जीको एक ही बात याद थी कि मैं रामजीका सेवक हूँ, इसलिये ***'राम काज लगि तव अवतारा'*** सुनते ही जागृति हो गयी।

राग-द्वेष अवस्था है। आप किसी अवस्थामें नहीं रहते, कोई अवस्था आपमें नहीं रहती। आप मायाके, काम-क्रोधके बेटे नहीं हो, प्रत्युत परमात्माके बेटे हो। परमात्माके बेटेको क्या काम-क्रोध दबा सकते हैं?

— — —

चेला बनानेका अधिकार उस गुरुको है, जो उसका कल्याण कर सके, अन्यथा उसे दण्ड होगा। सन्तकी चरण-रजका असर नहीं पड़ता, भावका असर पड़ता है।

साधकका काम है—असत्‌को सत्ता देकर महत्ता न दे। महत्ता बाँधनेवाली है। महत्ता मिटनेपर बन्धन नहीं रहेगा, चिन्मयता रह जायगी।

असत् सिनेमाकी तरह है। उसमें संसार तो चित्रकी तरह है और परमात्मतत्त्व परदेकी तरह। सब व्यवहार दीखता है और मिट जाता है, पर परदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

संसारकी महत्ता दोषजनित है। अपनेमें दोषके कारण ही महत्ता दीखती है। अपनेमें काम-रूप दोष होता है तो स्त्री अच्छी दीखती है, लोभ-रूप दोष होता है तो रुपये अच्छे दीखते हैं। भूखके कारण ही भोजन अच्छा लगता है। संसारको महत्ता देनेसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं।

लेना-ही-लेना जड़ता है। देना-ही-देना चिन्मयता है। भगवान् और उनके भक्त देते-ही-देते हैं। जो लेता और देता है, वह मनुष्य है। जो लेना बन्द करके देना शुरू कर दे, वह साधक हो जाता है।

— — —

गीता भगवान्‌के द्वारा योगमें स्थिति होकर कही गयी है। युक्तयोगी होनेपर भी भगवान्‌ने गीता विशेषतासे कही है। गीताकी पुष्पिकामें '*उपनिषत्सु*' बहुवचन देने का तात्पर्य है कि सभी उपनिषदोंमें गीता एक है। गीता अनादि है—**'इमं विवस्वते योगम्',** यह अव्यय है—**'प्रोक्तवानहमव्ययम्'** (गीता 4। 1)। कोई सच्ची, तत्त्वकी बात जानना चाहे तो वह उसे गीतामें मिलेगी। गीता-माताकी गोद सबके लिये खुली है। गीताके अनुसार मनुष्यमात्र भगवान्‌की प्राप्ति कर सकता है।

हमारी संस्कृति सब कार्य धर्मके अनुसार करनेकी है। इसीलिये हम हरेक काममें ब्राह्मणसे पूछते हैं। आप जो-जो काम करते हैं, उसमें यह भाव बना लें कि मैं भगवान्‌की पूजा करता हूँ। यह आज नियम ले लें। शौच-स्नान आदि भी भगवान्‌का पूजन समझकर करें। यह शरीर भगवान्‌का है, इसलिये इसको साफ करना भी भगवान्‌का ही पूजन है।

गीता और रामायणमें शरणागतिकी बात विशेष आयी है। शरणागतिकी रक्षा करना क्षत्रियोंका मुख्य कर्तव्य है। भगवान्‌के शरण होना और सबकी सेवा करना—ये दो खास बातें मान लें। अपने लिये कुछ नहीं करना है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेके लिये भी कुछ नहीं करना है।

— — —

गीतामें भक्तिकी विशेषता है। भक्तिमें भगवान् भक्तके विशेष संरक्षक होते हैं, उसका विशेष खयाल रखते हैं।

यदि साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इनमें किसीका पक्षपात न रखे तो एक साधनकी सिद्धिसे तीनोंकी सिद्धि हो जाती है। भक्तिके साथ ज्ञान और वैराग्य भी आ जाते हैं। अपने सुखसे सुखी कोई भी योगी नहीं होता।

— — —

ज्ञात अथवा अज्ञात सभी पापोंका सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है—नामजप। इससे भी श्रेष्ठ उपाय है—सत्संग।

मनुष्यशरीर अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है। उस मनुष्यजन्मको पापोंमें नष्ट करना बड़ी भारी हानि है। उस हानिका मुझे बड़ा दु:ख होता है, इसीलिये मैं परिवार-नियोजनका विरोध करता हूँ। कल्याणका सुगम उपाय जितना हिन्दुधर्ममें बताया गया है, उतना अन्य किसी भी धर्ममें नहीं। उस हिन्दुधर्मका ह्रास होनेसे मानवजातिकी कितनी बड़ी हानि होगी! मेरे मनमें बड़ी पीड़ा होती है, उस पीड़ाको दूर करनेके लिये मैं कहता हूँ। परिवार-नियोजन केवल अर्थशास्त्रका एक अंश है, जो धर्मसे विरुद्ध है। यह मोक्षशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्रकी भी बात नहीं है। इससे जनताका हित तो होगा नहीं, सरकारका भी हित नहीं होगा। धर्मसे विरुद्ध अर्थशास्त्र हमारे कामका नहीं है।

संग्रहकी इच्छासे भी भोगकी इच्छा ज्यादा खराब है। पशु बिना किसी शिक्षाके अपने धर्म, मर्यादाके अनुसार चलते हैं। मनुष्यको स्वतन्त्रता दी गयी है अपने कल्याणके लिये, पर उसने लगा दिया पापोंमें!

भले ही रूखी-सूखी रोटी खाकर निर्वाह कर लो, पर कर्जा कभी मत लो।

— — —

जो चीज स्वत: होती है, वह स्वाभाविक होती है। आगन्तुक चीज अस्वाभाविक होती है। स्वाभाविक रहनेवाली चीज आपकी स्थिति है। आपका स्वरूप स्वाभाविक है। गलती है—स्वाभाविकताका निरादर और अस्वाभाविकताका आदर। अस्वाभाविक चीज उपेक्षा करें।

निर्विकारता हरदम रहती है। निर्विकार तत्त्वसे ही विचार दीखते हैं। विकारोंको महत्त्व देना गलती है। विकार आने-जानेवाले हैं। विकारके समय भी आप निर्विकार रहते हैं। निर्विकारता कभी नष्ट नहीं होती। अपने स्वरूपमें रहो, बहनेवालेके साथ मत बहो—***'रहता रूप सही कर राखो, बहता संगन बहीजे।'*** जैसे लहरें समुद्रके ऊपर हैं, भीतर नहीं, ऐसे ही काम-क्रोधादि विकार आपके भीतर नहीं हैं। स्वाभाविकताकी ओर दृष्टि सत्संगके समय जाती है।

विकार आये तो उसकी उपेक्षा करो। विरोध करनेसे उसकी सत्ता दृढ़ होगी।

— — —

मनुष्यशरीरमें आकर परमात्माकी प्राप्ति कर लेना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्यशरीर उन्हें मिला है, जो अपना कल्याण कर सकते हैं। अत: परमात्मप्राप्तिसे निराश होना और संसारकी आशा करना गलती है। हमारी रचना भगवान्ने उद्धारके लिये की है। भगवान्ने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। अविनाशी परमात्मा भाग्यसे नहीं मिलते, प्रत्युत हमारी लगनसे मिलते हैं।

हमारे मनकी बात पूरी होने अथवा न होनेकी ही सुख-दु:ख कहते हैं।

गीताभरमें ज्ञानी, भक्त आदिके जितने लक्षण बताये गये हैं, उनमें सार चीज है—समता।

लगनका अभाव है, परमात्माका अभाव नहीं है। कच्ची चीजकी लगन भी कच्ची होती है। सच्ची वस्तुके लिये

लगन भी सच्ची होनी चाहिये।

— — —

संसारमें जितने भी श्रेष्ठ भाव हैं, आचरण हैं, उनके मूलमें कोई-न-कोई सन्त ही है। भगवान्‌के अवतारके भी मूलमें सन्त ही हैं। सन्त-रूपसे साधु भी होते हैं, गृहस्थ भी। सन्त वेश नहीं होता, भाव होता है। ऋषि-मुनि प्रायः गृहस्थ ही थे। उनमें त्याग, तप, भगवद्विश्वास और तात्त्विक अनुभव था। सब जातियोंमें, वर्णोंमें, आश्रमोंमें सन्त-महात्मा हुए हैं। सभी सम्प्रदायोंमें सन्त-महात्मा हुए हैं। उनमें पक्षपात नहीं था। सन्त अवधूत-कोटिके भी होते हैं और आचार्य-कोटिके भी।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) पर सन्त श्रीमंगलनाथजी महाराजका असर पड़ा था। वे उनको भावसे गुरु मानते थे। सेठजी अपना भजन गुप्त रखते थे। वे कहते थे कि प्रह्लादजीने अपना भजन प्रकट कर दिया, तभी उनपर इतने विघ्न आये।

— — —

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति स्वतः है। नित्यनिवृत्ति निवृत्ति स्वतः है। अतः चुप हो जायँ। किसीका भी चिन्तन न करें। चिन्तन हो जाय तो उसको न अच्छा समझें, न बुरा समझें, न अपनेमें समझें। चुप होनेसे सीधे अपने-आपमें स्थिति होती है।

भगवान्‌को अपने द्वारा स्वीकार करना है, मन-बुद्धिके द्वारा नहीं। अपने द्वारा स्वीकार करनेसे विस्मृति नहीं होती। जैसे, विवाह करनेपर फिर उसे याद नहीं करना पड़ता और विस्मृति भी नहीं होती।

संसार '**मैं**' से शुरू होता है। '**मैं**' से विमुख होते ही तत्त्व प्राप्त हो जाता है।

— — —

मृत्यु होनेपर गीताको उसके सिरहाने रखें। पीछे उसे गंगाजीमें बहा दें, जलायें नहीं।

विवेक और वैराग्यकी आवश्यकता सभी साधनोंमें है। ऐसे ही विश्वासकी आवश्यकता भी सब जगह है। माता-पिता आदिको विश्वाससे ही मानते हैं। ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वासकी प्रधानता है।

धनके बलसे धनके गुलामको बुला सकते हैं, महात्माको नहीं। धनसे जो चीज मिलती है, वह धनसे कम कीमती होती है। यदि किसी मूल्यके बदले सत्संग खरीदा जा सके तो सत्संग उस मूल्यसे छोटा सिद्ध होगा।

नामजपसे प्रारब्ध बदल जाता है, अच्छे सन्त-महापुरुष मिल जाते हैं, भगवान् मिल जाते हैं! ***'राम-नामकी लूट है, लूट सके तो लूट!'*** राम-नामकी लूट अपने ही धनकी लूट है, पराये धनकी नहीं। उसपर हमारा पूरा अधिकार है। लूटका अर्थ है—मुफ्तमें चाहे जितना ले लो। यह किसी गुरुके अधीन नहीं है।

— — —

पारमार्थिक कार्य तत्परतासे सिद्ध होता है। सांसारिक कार्य भी पारमार्थिक सिद्धिके लिये करने चाहिये। एकको मुख्यता, परायणता होनेसे ही काम सिद्ध होगा। सांसारिक कार्य तो अपने-आप होगा, पर पारमार्थिक कार्य अपने-आप नहीं होगा।

पाप कर लें, पीछे प्रायश्चित कर लेंगे—इस तरह जान-बूझकर किये पापका प्रायश्चित नहीं होता।

मनुष्य अच्छा काम करे तो देवताओंसे भी ऊँचा उठ जाता है और बुरा काम करे तो पशुओंसे भी नीचा गिर जाता है।

— — —

माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। साधकको अपने कर्तव्यका पालन और अपने अधिकारका त्याग करना है। दूसरे मेरे अनुकूल हो जायँ, मेरी मनचाही हो जाय—इसका त्याग करना 'अधिकार त्याग' है। करनेका अधिकार है, पानेका अधिकार नहीं। आजकल अधिकार तो चाहते हैं, पर कर्तव्य करते नहीं। वास्तवमें कर्तव्यके पीछे अधिकार दौड़ता है, पर आज अधिकारके पीछे दौड़ते हैं। अधिकार कर्तव्यका दास है, पर आज अधिकारके दास हो रहे हैं! पास होना चाहते हैं, पर पढ़ना नहीं चाहते! समाजमें हरेक व्यक्ति अधिकार चाहेगा तो लड़ाई होगी।

दूसरेका कर्तव्य देखते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे गिर जाता है। अपनेको ऊँचा दिखाना, जिससे दूसरे हमें अच्छा समझें—यह अधिकारकी इच्छा है। दूसरा कुछ कहे, अपना काम ठीक तरहसे करो तो संसार सुधर जायगा।

दूसरेको निर्दोष देखनेकी इच्छा दोषदृष्टि नहीं है। माँ-बाप बच्चेमें दोष देखते हैं, अध्यापक विद्यार्थियोंमें दोष देखता है, गुरु अपने शिष्योंमें दोष देखता है तो यह दोषदृष्टि नहीं है, प्रत्युत उनको निर्दोष देखनेकी इच्छा है। दोषोंको न तो अपनेमें कायम करना चाहिये, न दूसरोंमें—यह मार्मिक बात है। वर्तमान सबका निर्दोष है।

भगवान्‌के वियोगमें तपस्या अपने-आप हो जाती है, पर तपस्याके बलसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती।

— — —

भगवान्‌की सृष्टि और गीताका उपदेश—दोनों ही बहुत विलक्षण हैं तथा कल्याण करनेवाले हैं। सभी कर्म दूसरोंके उपकारके लिये हैं। सभी मन्त्र दूसरोंके उपकारके लिये हैं। गायत्री-मन्त्रमें स्तुति, ध्यान और प्रार्थना—तीनों हैं। उनमें बहुवचन आया है, जिसका तात्पर्य है कि जप तो मैं करता हूँ, पर कल्याण सबका हो—'**धियो यो न प्रचोदयात्**'। यज्ञ, तप और दानमें भी अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग है।

— — —

नामका जप उपांशु तथा मानस भी होता है। साधारण (वाचिक) जपसे उपांशु जप श्रेष्ठ है। उपांशु जपसे मानस जप श्रेष्ठ है। मानस जपको 'नाम-स्मरण' (सुमिरन) भी कहते हैं। स्मरणका अर्थ है—याद रखना। एक मन्त्र-जप होता है, एक नाम-जप। जप है—पुकार, सम्बोधन। 'राम' कहनेका अर्थ है—'हे राम!'। पुकार सबसे श्रेष्ठ है।

श्रोता—चैतन्य महाप्रभु आदि सन्तोंने ***'हरे राम०'*** मन्त्रको उलटा क्यों कर दिया? वे मन्त्रका आरम्भ ***'हरे कृष्ण०'***से क्यों करते हैं?

स्वामीजी—***'हरे राम०'***मन्त्र वैदिक होनेसे इसे केवल यज्ञोपवीतधारी जप सकते हैं। इसे हरेक मनुष्य जप सके, इसलिये इसका मन्त्रपना निकालनेके लिये उन सन्तोंने इसे उलटा कर दिया।

'हे मेरे नाथ!'—ऐसे हृदयकी पुकार भगवान्‌को द्रवित कर देती है। पुकार भगवान्‌तक जल्दी पहुँचती है।

प्रेम और आदरपूर्वक दिया गया दान ही दूसरोंके काम आता है।

— — —

अपने स्वभावका सुधार करें। बिगड़ा स्वभाव किसीको नहीं सुहाता। स्वभाव-सुधार तब होगा, जब अपना ध्येय परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। दूसरे मुझे क्या समझें—यह कसौटी ठीक नहीं है। जो भोग और संग्रहमें लगे हैं, उनका स्वभाव ठीक नहीं रहता। सब दोष देहाभिमान (मैं-मेरे) से आते हैं; अत: मैं-मेरेका त्याग कर दें। छोटा बच्चा सबको अच्छा लगता है; क्योंकि उसमें राग-द्वेष नहीं होते।

हम जितने भले होते हैं, लोग हमें उससे अधिक भला मानते हैं। हम जितने बुरे होते हैं, लोग हमें उससे कम बुरा मानते हैं। लोग बड़े उदार हैं! अत: अपने भीतरके बुरे भावोंको मिटा दो।

करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहें। करनेमें सावधान नहीं रहते और होनेमें चिन्ता करते हैं—यह गलती है। जो हरदम सावधान रहता है, वही साधक होता है।

अन्तमें अकेला ही जाना पड़ेगा, अत: पहलेसे ही अकेला हो जाय!

— — —

दो ही सबका हित करनेवाले हैं—भगवान् और भक्त। इन्हें किसीसे कुछ लेना नहीं है, किसीसे कुछ चाहना नहीं है। श्रीरामचरितमानस भगवान्‌का चरित्र है और भक्तकी वाणी है; अत: इसके पाठका मौका बड़े भाग्यसे मिलता है। यह भगवत्कृपासे मिलता है, अपने बलसे नहीं।

सत्संग कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌की कृपा है। इस कृपाका आदर करो।

भक्ति बहुत कोमल है। किसीका निरादर करनेसे भक्तिका रस नहीं मिलता।

— — —

एक 'करना' होता है, एक 'होना' होता है। करनेमें हमारा अधिकार है और होना भगवान्‌के अधीन है। व्यापार करते हैं और नफा-नुकसान होता है। दवा लेना हमारे हाथमें है और रोग ठीक होना या न होना भगवान्‌के अथवा प्रारब्ध ाके हाथमें है।

मनुष्य कर्मयोनि है; अत: मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' (गीता 2। 47)। यदि सब कुछ भगवान् ही करते या कराते हैं तो फिर मनुष्यता क्या रही? सब भगवान् ही कराते हैं—यह अपना ही अज्ञान भगवान्‌पर आरोपित करना है—***'निज अग्यान राम पर धरहीं'*** (माानस, उत्तर० 73। 5)। मनुष्य स्वयं कर्म करता है, तभी स्वयं दण्ड भोगता है। दुर्घटना होनेपर दण्ड उसे मिलता है, जो मोटर चलाता है।

ईश्वरकी इच्छाके बिना पत्ता नहीं हिलता—ऐसा कहा जाता है, पत्ता हिलता नहीं—ऐसा नहीं कहा है। कर्म करनेका अधिकार होनेसे ही मनुष्यपना है। करनेका अधिकार न हो तो मनुष्यपना है ही नहीं। मनुष्य ही कर्मयोनि है। 'करना' मनुष्यकी इच्छापर है और 'होना' भगवान्‌की इच्छापर है—

'**होइहि सोइ जो राम रचि राखा**' (मानस, बाल० 52। 4)

'**जो जस करइ सो तस फलु चाखा**' (मानस, अयोध्या० 211। 2)

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' (गीता 5। 14)

'परमात्मा मनुष्योंके कर्तापन तथा कर्मोंकी रचना नहीं करते'।

सूर्यके प्रकाशमें सब अच्छी-बुरी क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उनका कर्ता नहीं होता।

जन्मकुण्डलीमें आता है कि यह ऐसा-ऐसा काम करेगा तो वह पूर्वजन्मके संस्कारका फल है—**'दैवं चैवात्र पञ्चमम्'** (गीता 18। 14)। परन्तु मनुष्य उस स्वभावको बदल सकता है। मनुष्यपर अपने स्वभावका सुधार करनेका दायित्व है। स्वभाव सुधरनेसे ही मुक्ति होती है। स्वभाव बदलनेसे ही मनुष्य साधु होता है।

यद्यपि करनेकी सामर्थ्य भगवान्‌से मिली हुई है, तथापि उसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

सत्संग, सच्छास्त्र और सद्विचार—इन तीनोंसे स्वभावमें सुधार होता है।

— — —

मनुष्यशरीरकी महिमा बहुत है, पर वह शरीरको लेकर नहीं, उसके सदुपयोगको लेकर है। मनुष्यकी उन्नतिकी आखिरी हद यह है कि वह भगवान्‌का भी इष्ट बन जाय!

भगवान्‌की अत्यधिक कृपासे मानवशरीर सफल करनेका यह मौका हमें मिला है!

— — —

खास बात है—वर्तमानको शुद्ध बनाना। वर्तमानकालको शुद्ध बना लें तो भूत भी शुद्ध हो जायगा और भविष्य भी। भूत और भविष्यका चिन्तन ही 'व्यर्थ चिन्तन' है, जिससे कुछ लाभ नहीं। सबका वर्तमान शुद्ध है—यह मार्मिक बात है। वर्तमान दोषी नहीं है। ***'चेतन अमल सहल सुख रासी'***—यह वर्तकान है। यह तीनों कालोमें वर्तमान है। वर्तमान-तत्त्व सदा शुद्ध ही रहता है, कभी मैला नहीं होता।

भविष्यकी चिन्ता न करके विचार करे, पर भूतको बिलकुल छोड़ दे।

तत्त्व सदा वर्तान रहता है। हम सिनेमामें भूत-भविष्य-वर्तमानको अपनी दृष्टिसे देखते हैं, पर फिल्ममें क्या ये तीन काल हैं? उसमें तो सब कुछ वर्तमान है। जैसे सिनेमा अँधेरेमें दिखता है, प्रकाशमें नहीं, ऐसे ही संसार अज्ञानरूपी अन्ध ाकारमें दीखता है, ज्ञानरूपी प्रकाशमें नहीं। ज्ञानमें भूत-भविष्य-वर्तमान हैं ही नहीं। जैसे सिनेमामें परदा ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें कोई फर्क पड़ता ही नहीं, ऐसे ही तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

— — —

श्रोता—कभी-कभी भगवान्‌में भाव पैदा होता है, गला गद्‌गद् होता है, अश्रुपात होता है, पर वैसा भाव सदा क्यों नहीं रहता?

स्वामीजी—उसमें सुख लेनेसे, उसमें दिखावटीपन आनेसे, उसे लोगोंमें कहनेसे, उसमें सन्तोष करनेसे वह सदा नहीं रहता। उसे अपने उद्योगसे न मानकर कृपासे मानें। मान-बड़ाईकी इच्छा रहनेसे साधन तेजीसे नहीं बढ़ता। परमात्माकी प्राप्तिमें कठिनता नहीं है, सांसारिक सुख छोड़नेमें कठिनता है।

व्यवहारमें 'कनक' बाधक है और भावमें 'कामिनी' बाधक है। कामिनी की आसक्ति भीतर बहुत गहरी बैठी हुई

होती है।

संसारसे शरीरको अलग मानना गलती है। उससे भी बड़ी गलती है—शरीरसे सुख लेना। शरीरको सुख-आराम देना उसके साथ शत्रुता है।

जो होता है, वह ठीक ही होता है, बेठीक होता ही नहीं।

संसार आपसे नहीं चिपकता। संसार तो भागता है, आप ही उससे चिपकते हो, उसमें ममता-आसक्ति करते हो।

जो निरन्तर रहता है, उसीके साथ हमें रहना है। मैं-मेरेका त्याग कर दें। अपनी स्थिति मैं-मेरेमें न रखें, प्रत्युत 'है' में रखें। सब कुछ बदल गया, पर आप वही हैं। आप वहीं हैं—इसीमें रहें। जो रहनेवाला नहीं है, उसमें मैं-मेरा करके ही आप दु:ख पा रहे हैं। शरीर और संसार एक है, पर मैं-मेरा करके आप शरीरको संसारसे अलग कर लेते हैं।

'नहीं' की प्रीति छोड़नेसे 'है' में प्रीति हो जायगी। 'नहीं' की प्रीति छूटेगी—सेवा करनेसे, त्याग करनेसे अथवा भगवान्‌का माननेसे ।

ज्ञान असत्‌का ही होता है। सत्‌का ज्ञान होता ही नहीं। मैं हूँ—यह ज्ञान तो कुत्तेको भी है। गलती है—अपनेको असत्‌के साथ मिलाना।

— — —

संसार स्वत: ही हमसे हट रहा है। हमें उससे हटना नहीं पड़ेगा। परमात्मतत्त्व स्वाभाविक ही प्राप्त है। वह कभी अप्राप्त हो सकता ही नहीं। अत: कुछ भी चिन्तन न करके चुप हो जायँ। चिन्तन आ जाय तो चला जायगा। उसको न अच्छा मानें, न बुरा मानें, न अपनेमें मानें। परमात्माका भी चिन्तन करोगे तो जड़का आश्रय लेना पड़ेगा। चुप होनेमें नींद, आलस्य, प्रमाद, असावधानी नहीं है। यदि नींद आती हो तो चुप-साधन न करके नापजप या कीर्तन करो।

परमात्मा निरन्तर प्राप्त हैं—यह स्वीकृति करनी है। यह स्वीकृति नामजप आदिसे भी तेज है।

'है' में चुप हो जाओ। चुप होना समाधिका फल है।

नाम-जप करते-करते चुप हो जाओ; जैसे—पक्षी पहले पर हिलाते हुए आकाशमें ऊँचा उड़ता है, फिर पर फैला देता है।

— — —

अपना उद्धार न करनेवाला आत्मघाती है। मनुष्यशरीर मिल गया, कलियुगका समय मिल गया, गीता-रामायणसे परिचय हो गया, सत्संग मिल गया, अब अपना उद्धार नहीं करोगे तो फिर कब करोगे?

'ग्रहण' करनेका सर्वोपरि एक ही नियम है—भगवान्‌को याद रखना। 'त्याग' करनेका सर्वोपरि एक ही नियम है—कामनाका त्याग करना।

— — —

'करने' से उसकी प्राप्ति होती है, जो उत्पत्ति-विनाशशील तथा दूर है। 'है' स्वत:प्राप्त है। उसकी प्राप्ति स्वीकृतिसे होती है, 'करने' से नहीं। संसार 'नहीं' है। संसारमें जो 'है'-पना ही है; क्योंकि 'है' एक ही हो सकता है। वह परमात्मा हमारा है। जैसे पुत्र माता-पिताको, पत्नी पतिको स्वीकार कर लेते हैं, ऐसे ही परमात्माको स्वीकार कर

लें।

परमात्माको 'है' माननेपर संसारका 'नहीं'-पना सिद्ध हो जाता है। आत्माको 'है' माननेपर शरीरका 'नहीं'-पना सिद्ध हो जाता है। मनमें संसारकी सत्ता मान रखी है—यही बाधा है! इसमें कारण है—सुखकी आशा, कामना और भोग।

'नहीं' को 'है' माननेसे जो वास्तवमें 'है', वह लुप्त हो गया। केवल स्वीकार करनेसे उस परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु 'नहीं' को नहीं माने बिना 'है' को मान सकोगे नहीं! सूर्य और अमावस्या एक साथ नहीं रह सकते।

— — —

जब मनुष्य परमात्माके सम्मुख होता है, तब उसमें सब सद्‌गुण आ जाते हैं और संसारके सम्मुख होता है, तब सब दुर्गुण आ जाते हैं। परमात्माके सम्मुख होते ही जन्म-मरण सब मिट जाते हैं।

संसारमें रहते हुए मनुष्य संसारकी बातें भी सीख सकता है और परमात्माकी बातें भी, पर संसारको भी नहीं जान सकता और परमात्माको भी! संसारको जाननेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और परमात्माको जाननेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारका दुःख और सुख—दोनों ही दुःख हैं—'**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**' (योगदर्शन 2। 15)। दोनों ही दादकी बीमारीकी तरह हैं। दादमें खुजली करनेसे जो सुख मिलता है, वह भी रोग ही है।

जबतक मनुष्य संसारसे सुख लेता रहता है, तबतक वह संसारमें ही है, चाहे वह साधु, गृहस्थ आदि कोई क्यों न हो! जबतक संसार प्रिय, अच्छा लगता है, तबतक वह संसारमें ही फँसा हुआ है, चाहे साधु क्यों न हो! यदि संसारमें मन ललचाता है, मान-बड़ाई अच्छी लगती है तो संसार जीत गया, आप हार गये! संसारमें फँसा हुआ मनुष्य परमात्माके सुखको नहीं जान सकता।

यदि परमात्मामें लगन लग जाय तो वह सुख मिल जायगा, जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी नहीं मिलता।

यदि आप दुःख नहीं चाहते हो तो संसारका सुख मत भोगो।

न संसारके मोहमें फँसो, न शास्त्रोंके मोहमें फँसो, फिर सुगमतासे तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

अपने लिये कुछ भी करना फँसना है! जप, तप, ध्यान आदि भी अपने लिये नहीं करने हैं।

बालक मैला हो तो भी माँकी गोदमें चला जाता है। तब माँ गोदमें लेनेके लिये उसे स्नान कराती है, पर बालक स्नान करते समय मूर्खतासे रोता है। ऐसे ही संसारकी आसक्ति मैल है, जिसे उतारकर भगवान् अपनी गोदमें लेते हैं।

— — —

हर समय यह जागृति रहनी चाहिये कि हम यहाँके रहनेवाले नहीं हैं। इसे याद नहीं करना है, प्रत्युत इसकी जागृति रखनी है, इसे स्वीकार करना है। जैसे यह जागृति रहती है कि हम यहाँ पण्डालमें सत्संगके लिये आये हैं और फिर यहाँसे जाना है, ऐसे ही यह जागृति रहे कि हम संसारमें आये हैं और फिर यहाँसे जाना है। यह आवश्यक नियम है। यह यहाँकी रिवाज है। भगवान् भी अवतार लेते हैं तो इस रिवाजको मिटाते नहीं, आते हैं और चले जाते हैं।

मनुष्य संसारमें जितना स्थायी निवास मानता है, उतना ही उससे अन्याय होता है। यह मृत्युलोक है। इसमें

मरने-ही-मरनेवाले बैठे हैं। हमें यहाँसे जाना है—यह जागृति रहेगी तो फिर अन्याय नहीं होगा।

परमात्मतत्त्वको प्राप्त करके आप दुनियाका जो उपकार कर सकते हैं, उतना लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके भी नहीं कर सकते। भगवद्भजन करनेवालेके द्वारा दुनियाका स्वतः उपकार होता है। भगवान् कहते हैं—

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं

हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।

सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्

पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः।। (अध्याय० उत्तर० 5। 61)

'चाहे मेरे निर्गुण-स्वरूपका चित्तसे उपासना करनेवाला हो अथवा मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुण-स्वरूपकी सेवा-अर्चना करनेवाला हो, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है। वह सूर्यकी तरह विचरण करता हुआ अपनी चरण-रजके स्पर्शसे तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है'।

— — —

जैसा है, वैसा जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। उलटे ज्ञानका नाम 'अज्ञान' है। ज्ञानके अभावका नाम 'अज्ञान' नहीं है। यदि ऐसा होता तो भगवान् यह नहीं कहते—'**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**' (गीता 5। 15) 'अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है।' अतः उलटे ज्ञानका नाम ही 'अज्ञान' है, जो उलटा होनेपर मिट जाता है। शरीर 'मैं' और 'मेरा' है—यह उलटा ज्ञान है।

शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापर)-का त्याग होनेपर शान्ति मिल जाती है; क्योंकि यथार्थ बात हो गयी! जबतक अहंता-ममताका त्याग नहीं हुआ, तबतक वास्तविक त्याग नहीं हुआ। ऐसा मान लें कि 'मैं' भी भगवान्‌का हूँ और 'मेरा' सब कुछ भी भगवान्‌का है।

जो नहीं है, उसे ही मिटाना है। जो है, उसे ही प्राप्त करना है। मिले हुएको अपना मत मानो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। वस्तुको मैं-मेरा माननेसे ही मलिनता आती है। भगवान्‌के अर्पित करते ही वस्तु पवित्र हो जाती है।

त्याग उसीका करना है, जो आपका नहीं है। वस्तु 'अपने लिये' भी नहीं है, अन्यथा और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती। हमारी वस्तु हमें मिल जाय तो फिर कुछ पाना बाकी नहीं रहेगा, सदाके लिये भूख मिट जायगी, सन्तोष मिल जायगा। भगवान्‌को अपना नहीं मानते, इसीलिये दुःख पा रहे हैं।

छोड़नेमें मौज है, छूटनेमें मौत! शरीरमें मैं-मेराका त्याग करना ही उसे छोड़ना है। मौत आनेपर शरीर छोड़ते नहीं, प्रत्युत छूट जाता है। छोड़नेसे मुक्ति होती है, छूटनेसे नहीं।

— — —

अब झूठ, कपट, पापका समय आ रहा है। इससे बचना चाहिये। जैसे शीतकाल आनेपर उससे बचनेका प्रयत्न करते हैं, ऐसे ही वर्तमान समयसे बचो। समयके अनुसार मत चलो, प्रत्युत समयसे अपना बचाव करो।

भगवान्‌ने कहा है—'**पवित्राणाय साधूनां०**' (गीता 4। 8) अर्थात् मैं साधुओंकी रक्षा करनेके लिये अवतार लेता हूँ। साधुओंके भजनमें जो बाधा आती है, उस बाधाको दूर करना ही उनकी रक्षा है; क्योंकि साधु भजन करते हैं, ध ान-सम्पत्ति आदि नहीं चाहते।

सत्संग करनेसे उन निषिद्ध बातोंसे भी अरुचि हो जाती है, जिनका निषेध सत्संगमें नहीं किया गया। सभी व्यसनोंसे स्वत: अरुचि हो जाती है।

संसारकी बुराई छोड़नेसे ही वह बुराई-रूपसे दीखती है।

— — —

वस्तुकी महिमा नहीं है, भावकी महिमा है। भाव हो तो पुस्तकें पड़ी-पड़ी भी लाभ करती हैं।

भगवान्‌में अपनापन करना असली भक्ति प्राप्त करनेका उपाया है। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इसे मनुष्यके सिवाय और कौन कह सकता है? अपनेको भगवान्‌का मान लो तो आप ठीक ठिकाने आ गये! भगवान्‌को अपना नहीं मानोगे तो कइयोंका दास बनना पड़ेगा और परिणाममें नरकोंमें जाना पड़ेगा!

— — —

संसारमें हम सब आये हैं, रहनेवाले नहीं हैं। यहाँकी कोई चीज 'मैं', 'मेरी' और 'मेरे लिये' नहीं है। अन्न, जल, कपड़ा, मकान, कार्य करना, सोना—इनको भी केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये स्वीकार करना है, अपने सुखके लिये नहीं। अकेले, बिना संगठनके आप कोई भी काम नहीं कर सकते। यह शरीर आपका नहीं है, दूसरोंका है। शरीरको अपना मान लिया तो यह मूलमें भूल हो गयी, अब आगेका सब हिसाब (गणित) रद्दी हो जायगा। जोड़के आरम्भमें एक अंककी भी भूल कर दी तो आगेका जोड़ कितना ही सही लगा लो, सब-का-सब रद्दी हो जायगा।

हमें किसीसे कुछ लेना है ही नहीं। जीवन-निर्वाह भी केवल दूसरोंकी सेवाके लिये होना चाहिये। मनुष्य सबके लिये है। सब मनुष्यके लिये हैं—यह मूल भूल है।

जाति जन्मसे मानी जाती है, कर्मसे नहीं। यदि कर्मसे जाति मानें तो क्या कोई मेहतर बनना चाहेगा? सभी मनुष्य ब्राह्मण बनना चाहेंगे। जो ऊँचा बनना चाहता है, वह वास्तवमें नीचा है—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।

जातिके अभिमानसे, डूबे सभी कुलीन।।

जो ऊँचा बनना चाहते हैं, वे केवल अपना अहंकार बढ़ाना चाहते हैं।

— — —

गुरु वह है, जो दूसरोंको भी गुरु बना दे। समर्थ वह है, जो असमर्थको भी समर्थ बना दे।

श्रोता—हनुमान्‌जीको इष्ट मानें तो उनके साथ क्या सम्बन्ध मानें?

स्वामीजी—उनको अपना गुरु मानो। हनुमान्‌जीने विभीषणको भगवान्‌पर विश्वास करा दिया। जो भगवान्‌पर विश्वास करा दे, वह गुरु होता है।

श्रोता—अनजानमें गर्भपात करा लिया हो तो क्या प्रायश्चित्त करें?

स्वीमीजी—प्रतिदिन सवा लाख नाम-जप करें। भगवान्नाममें सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेकी शक्ति है।

— — —

सच्चे सन्त धनवानों के पीछे नहीं फिरते, प्रत्युत धनवान् उनके पीछे फिरते हैं।

मनुष्यको सदा अच्छे-से-अच्छे काममें लगे रहना चाहिये, चाहे वह सिद्ध हो या न हो—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (गीता 2। 48)। भगवान् सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरवोंके पास गये, पर उनका कार्य सिद्ध नहीं हुआ। कार्य सिद्ध न होनेपर भी उन्हें अठारह अक्षौहिणी सेनाकी रक्षा करनेका पुण्य प्राप्त हुआ! भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।

प्राप्तो भवित तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः।। (महा० उद्योग० 93। 6)

'मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें मुझे सन्देह नहीं है।'

— — —

दहेज माँगनेवाले कन्याके गर्भपातरूपी महान् पापके भागी होंगे; क्योंकि दहेज-प्रथाके कारण लोग कन्याका गर्भपात करा देते हैं—कन्या-भ्रूणकी हत्या कर देते हैं।

निर्वाहकी चीजें महँगी हो गयीं, पैदा (आमदनी) कम हो गयी और शौकीनी बढ़ गयी—ये तीन आफतें वर्तमानमें आयी हैं! स्वाद-शौकीनी महान् पतन करनेवाली चीज है।

प्रत्येक समाजमें देनेवाले (त्यागी) की महिमा होती है, लेनेवालेकी नहीं।

समाज-सुधारका मूल मन्त्र है—सन्तोष।

— — —

एक बात सन्त-महात्मा कहते हैं और एक बात संसारमें उलझे आदमी कहते हैं—दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है। जो नियम, कानून बनाते हैं, वे किस दृष्टिसे कहते हैं—यह विचार करना चाहिये। जीवका कल्याण कैसे होगा? वह सदाके लिये सुख कैसे होगा? यह बात सामने रखनी चाहिये। सांसारिक सुख भोगना मानव-जीवनका उद्‌देश्य नहीं है। अपने सुखकी बुद्धि पशुबुद्धिसे भी नीची राक्षस-बुद्धि है। हिरण्यकशिपुका ध्येय था कि मैं मरूँ नहीं, सुख भोगता रहूँ। यह ध्येय राक्षसोंका है, मनुष्योंका नहीं।

धर्मका पालन करनेवाले मनुष्य वास्तवमें दुःख नहीं होते और भोगी मनुष्य सुखी नहीं होते। भोग और संग्रहकी इच्छावाले मनुष्य पतनमें जा रहे हैं। आजकल हरेक बात सुखभोगको दृष्टिमें रखकर कही जाती है—यह दृष्टि राक्षसोंकी है। सुखभोगकी दृष्टिसे ही परिवार-नियोजन, विधवा-विवाह आदिकी बात कही जाती है।

गीध बहुत ऊँचा उड़ता है, उसकी दृष्टि बड़ी तेज होती है, पर जमीनपर सड़ा-गला मांस देखते ही उसकी उड़ान बन्द हो जाती है और वह वहीं गिर जाता है! ऐसे ही लोग शास्त्रोंकी बातें जानते है, व्याख्यानमें बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, पर कनक-कामिनी (रुपये और स्त्री) देखते ही वहीं गिर जाते हैं!

— — —

आकाशका सम्बन्ध सबके साथ है। चाहे जहाँ जाओ, आकाशसे कभी वियोग नहीं होता। वह आकाश भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। परन्तु आकाशकी तरह सर्वव्यापी परमात्मा नित्य रहनेवाले हैं। हमारा उनके साथ

नित्य-सम्बन्ध है। गीताके तेरहवें अध्यायका खास श्लोक है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत।। (गीता 13। 15)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी वे ही हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे जाननमें नहीं आते।'

सीखी हुई बात याद नहीं रहती और जानी हुई बात मिटती नहीं। 'मैं हूँ'—यह जानी हुई बात है। हम सबको भूल सकते हैं, पर अपनेको कभी भूल नहीं सकते। अपने होनेपनमें शंका भी नहीं होती कि मैं हूँ कि नहीं हूँ! इस अपने होनेपनकी परमात्माके साथ एकता है।

— — —

मुझमें और आपमें कोई फर्क नहीं है! आप सुनते हैं, इसलिये नीचे बैठ गये। मैं बोलता हूँ, इसलिये ऊँचे बैठ गया। यह मर्यादा है। आप और हम सबका शरीर-संसारमें निरन्तर वियोग है और परमात्मासे निरन्तर योग है।

जो एक दिना आपसे बिछुड़ जायँगे, उनकी सेवा, आदर-सत्कार करो—

समय पधारे कूबजी, साध पावणा मेह।

अनआदर कीजै नहीं, कीजै घणो सनेह।।

गुरु शिष्यके लिये होता है, शिष्य गुरुके लिये नहीं। राजा प्रजाके लिये होता है, प्रजा राजाके लिये नहीं। धनवान् गरीबोंके लिये है; क्योंकि गरीब ही दूसरेको धनवान् बनाते हैं। धनवान् तो दूसरोंको गरीब बनाते हैं।

जो कुछ चाहता है, वह छोटा हो जाता है और देनेवाला बड़ा हो जाता है। लेनेके लिये छोटा बनना ही पड़ेगा। भगवान् भी लेनेके कारण 'वामन' बन गये!

श्रोताके बिना कोई वक्ता नहीं बन सकता। रोगीके बिना कोई डॉक्टन नहीं बन सकता। निर्धनके बिना कोई धनवान् नहीं बन सकता।

एकने व्रत किया और एकाको अन्न नहीं मिला—दोनोंमें फर्क है। व्रत रखनेवाला प्रसन्न रहता है और जिसे अन्न नहीं मिला, वह हाय-हाय करता है! त्यागसे शान्ति मिलती है, वियोगसे रोना पड़ता है!

पचपन-साठ वर्ष पहलेकी बात है। एकने मेरेसे कम्बल माँगा, पर मैंने दिया नहीं तो वह भूल अबतक मेरेको खटकती है! आप ऐसी भूल न कर बैठें! सावधान रहें, मिले अवसरका सदुपयोग करें।

जैसे यात्रा करते समय हम ट्रेनको 'हमारी ट्रेन' कहते हैं, पर यात्राके बाद क्या यह सोचते हैं कि हमारी ट्रेन कैसी है? कहाँ है? आदि। ऐसे ही ये सब वस्तुएँ काममें लेनेके लिये हमारी हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं।

— — —

संसारकी महत्ता ही हमारा पतन कर रही है। जो एक क्षण भी ठहरता नहीं, उसकी महत्ता कैसे? संसार सदा अप्राप्त है। वह आजतक किसीको मिला नहीं, मिल सकता नहीं। जो एक क्षण भी टिकता नहीं, वह मिलेगा कैसे? संसारका अभाव ही नित्य है। मनुष्य रोता है कि धन चला गया, स्त्री चली गयी, बेटा चला गया, पर वह खुद भी चला जायगा!

टिकेगा कोई नहीं।

— — —

आज्ञा-पालनके समान और कोई सेवा नहीं है—*'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'* (मानस, अयोध्या० 301। 2)। 'यह सिद्धान्त है'—ऐसा कहना संतकी एक नम्बरकी आज्ञा है। ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये—ऐसा कहना दो नम्बरकी आज्ञा है। ऐसा करो, ऐसा मत करो—ऐसा कहना तीन नम्बरकी आज्ञा है। सन्तके सिद्धान्तके अनुसार अपना जीवन बना लेना चाहिये।

बोलना श्रोताओंकी दृष्टिसे ही होता है। श्रोता जिस श्रेणीका हो, उसी श्रेणीमें सन्त-महात्मा बोलते हैं।

वेदोंमें भूल हो सकती है, पर श्रेष्ठ पुरुषोंमें भूल नहीं हो सकती। सन्तके वचनोंसे भी लाभ होता है, पर वचनोंके पीछे उनकी कृपा हो तो विशेष लाभ होता है।

नम्र होनेसे ही वस्तु मिलती है। लेनेवालेको छोटा होना ही पड़ता है।

आज्ञा-पालनसे सब प्रकारका लाभ होता है। आज्ञा देनेवाले (बड़े)-पर भार रहता है। सर्वथा दूधके आश्रित दूध मुँहे बच्चेको दवा नहीं लेनी पड़ती, माँको लेनी पड़ती है। ऐसे ही शिष्य गुरुके सर्वथा शरण हो जाय तो उद्धार गुरुको करना पड़ता है।

शरणागतके मनमें स्वतः तत्त्वकी बात पैदा हो जाती है। एकलव्यने शरणागत होकर मूर्तिसे शिक्षा ली, पर वह अर्जुनसे भी तेज हो गया! तात्पर्य है कि हमारी निष्ठा ऊँची होगी तो उसका फल भगवान् देंगे। पतिव्रतामें भगवान्की कृपासे शक्ति आती है।

— — —

अपना प्रकृति हमारा स्वरूप नहीं है। हम शरीरसे अपनेको घुला-मिला मानते हैं—यह अज्ञान है। जीवकी परमात्माके साथ एकता है, पर वह परमात्मासे अपनेको अलग मानता है; और शरीरकी संसारके साथ एकता है, पर वह शरीरसे अपनी एकता मानता है—यह अज्ञान है।

डेढ़ पुण्य हैं और डेढ़ पाप हैं। भगवान्के सम्मुख होना पूरा पुण्य है और सद्गुण-सदाचारोंमें लगना आधा पुण्य है। भगवान्के विमुख होना पूरा पाप है और दुर्गुण-दुराचारोंमें लगना आधा पाप है।

मिली हुई वस्तुसे दूसरेका हित करें, किसीका भी अहित न करें तो शरीरसे अलगावका अनुभव हो जायगा। किसीका बुरा करेंगे नहीं, किसीको बुरा मानेंगे नहीं और किसीका बुरा चाहेंगे नहीं—यह नियम ले लें तो अज्ञान मिट जायगा, और आप अजातशत्रु हो जायँगे।

किसीकी बुराई न करें तो सेवा अपने-आप होगी, करनी नहीं पड़ेगी। अपने-आप होनेवाली सेवाका अभिमान भी नहीं होगा और फलकी इच्छा भी नहीं होगी। संसारकी चीज संसारको दे दें, तो स्वतः स्वरूपका बोध हो जायगा।

दूसरेका सुधार नहीं, सेवा करनी है! बुराई उपदेशसे नहीं मिटती, आचरण (सेवा)-से मिटती है।

बादल सूर्यसे ही पैदा होता है, सूर्यके ही आश्रित रहता है, सूर्यको ही ढकता है और सूर्यसे ही मिट जाता है। ऐसे ही अज्ञान ज्ञानसे ही पैदा होता है, ज्ञानके ही आश्रित रहता है, ज्ञानको ही ढकता है और ज्ञानसे ही मिट जाता है।

श्रोता—अज्ञान ज्ञानके आश्रित कैसे रहता है?

स्वामीजी—यह अज्ञान है—ऐसा हम जानते हैं तो अज्ञान ज्ञानके आश्रित ही हुआ।

हमारा अवगुण ही संसारमें दीखता है—

सब जग ईस्वर-रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।

जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय।।

दूसरेमें बुराई दीखती है तो वह आगन्तुक है। वह स्वयं बुरा नहीं है। दूसरेको बुरा समझकर उसे रोकोगे तो उसकी बुराई नहीं छूटेगी, उलटे वह लड़ाई करेगा। कोई आदमी बैलोंको मार रहा है तो दया बैलोंपर न आकर उस आदमीपर आनी चाहिये; क्योंकि वह नया पाप कर रहा है। बैल तो अपने पुराने कर्मोंका फल भोगकर शुद्ध हो रहे हैं।

— — —

अनुकूलता-प्रतिकूलता ही संसार है। इसमें सुख-दु:ख अपना बनाया हुआ है। संसारकी रचान भगवान्‌ने प्राणिमात्रके हितके लिये की है। वे अकारण कृपा करनेवाले हैं। उनका विधान हमारे हितके लिये होता है। अत: अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों ही हमारे हितके लिये हैं।

साधकाका खास काम है—सावधान रहना। सावधान रहनेका तात्पर्य है—किसीसे कुछ न चाहना। किसीसे कुछ चाहनेके समान कोई पीड़ा नहीं! एक सन्तकी बात सुनी कि मैं चोटकी पीड़ा तो सह लूँगा, पर मरहम-पट्टीके लिये किसीसे कहूँ—यह पीड़ा नहीं सह सकता!

श्रोता—क्या साधुको भिक्षा नहीं माँगनी चाहिये?

स्वामीजी—साधु भिक्षा माँगते नहीं हैं। जो कहते हैं कि साधु भिक्षा (रोटी) माँगते हैं, वे साधुको जानते ही नहीं! साधु भिक्षाके लिये जाते हैं तो कहते हैं कि 'बस्ती जगाने जाते हैं'। श्रीशरणानन्दजी महाराज कहते थे कि हम तुम्हें देना सिखानेके लिये आये हैं।

युधिष्ठिकरका कीर्तन करनेसे धर्म बढ़ता है—'**धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन**' (पाण्डवगीता 2)। परन्तु उनमें जुआ खेलनेका व्यसन था! जैसे बच्चेके मुखपर एक काली बिंदी लगाते हैं कि नजर न लग जाय, ऐसे ही सन्तोंमें भी एक-न-एक काला टीका होता है!

— — —

ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है। अज्ञान नाम है विपरीत ज्ञान अथवा अधूरे ज्ञानका। 'मैं हूँ'—यह ज्ञान अभ्रान्त है, पर 'मैं शरीर हूँ'—यह विपरीत ज्ञान है। ज्यों-ज्यों सत्संग करोगे, त्यों-त्यों विपरीत ज्ञान हटता जायगा। शरीर मेरे एक देशमें है—यह ज्ञान है। शरीरको अपना मानना केवल दु:ख भोगनेके लिये है।

शरीर हम नहीं, हमारा नहीं, हमारे लिये नहीं। यदि शरीर हमारे लिये होता तो फिर और पानेकी इच्छा मिट जाती। यदि यह हमारा होता तो इसपर हमारा आधिपत्य चलता। शरीर हमारा नहीं तो हम कैसे हुआ? इसे चाहे संसारको सौंप दो, चाहे प्रकृतिको सौंप दो, चाहे भगवान्‌को सौंप दो। भगवान् मालिक हैं, प्रकृति कारण है, संसार कार्य है। संसारको सौंपना 'कर्मयोग' है, प्रकृतिको सौंपना 'ज्ञानयोग' है और भगवान्‌को सौंपना 'भक्तियोग' है।

— — —

अपना स्वरूप सत्ता है। यह सत्ता सर्वव्यापी है, शरीरमें सीमित नहीं है। सत्ता नित्य है, शरीर अनित्य है। सत्ता पहले है, शरीर पीछे है। अत: 'शरीर है'—ऐसा न मानकर 'है शरीर'—ऐसा मानना चाहिये। सत्ता ज्ञानस्वरूप है।

'अहम्' भी ज्ञानके अन्तर्गत है; क्योंकि वह जाननेमें आता है। ज्ञान करणनिरपेक्ष है। एक ही ज्ञानमें सब दीखते हैं। नफा-नुकसानमें फर्क है, पर उन दोनोंके ज्ञानमें कोई फर्क नहीं है। जैसे दृश्यमें फर्क होनेसे आँखमें फर्क नहीं पड़ता, ऐसे ही संसारमें फर्क होनेसे उसके ज्ञानमें फर्क नहीं पड़ता।

आप बुद्धिसे अलग और बुद्धिसे बड़े हैं; क्योंकि आप बुद्धि नहीं हैं और बुद्धिके भी नहीं है। बुद्धि आपकी है।

मनुष्यकी महिमा मनुष्यतासे है। मनुष्यता है—सबको सुख पहुँचाना और भगवान्‌को याद करना। ये दोनों काम मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं। मैं ले लूँ—यह राक्षसपना है, मनुष्यपना नहीं। सबको सुखी करना हाथकी बात नहीं है, पर नीयत सुख देनेकी होनी चाहिये।

अपने शरीरको सुख देनेसे राक्षसपना आ जायगा। अपने शरीरकी भी सेवा करनी है। उसको उतना देना है, जिससे वह सेवा करनेयोग्य बना रहे। स्वाद-शौकीनी नहीं करनी है। शरीरका निर्वाहमात्र करना है। उसे भोगोंमें नहीं लगाना है। सेवा करते-करते सेवक भी न रहे।

अपना स्वभाव 'देने' का बनाना है, 'लेने' का नहीं। शरीरका निर्वाहमात्र करना भी उसे 'देना' है। दाता दानमें और दान देयमें बदल जाय।

स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेपर ही मनुष्य साधक होता है।

— — —

संसार अध्यस्त (असत्य) हो चाहे न हो, पर संसारके साथ हमारा सम्बन्ध अवश्य अध्यस्त है। यह सम्बन्ध टूटेगा स्वयंकी स्वीकृतिसे, सीखनेसे नहीं। संसारके साथ सम्बन्ध झूठा है—यह बहुत मार्मिक बात है।

जैसे उबला या भूना हुआ बीज खानेके काम तो आता है, पर अंकुर नहीं देता, ऐसे ही ज्ञान होनेपर अन्त:करण विशेष प्रकाश तो देता है, पर पुन: जन्म-मरण नहीं देता। ज्ञान होनेपर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तो रहते हैं, पर सम्बन्ध ा नहीं रहता। असली बात है—सम्बन्ध-विच्छेद, मैं-मेरापन मिटना। मैं-मेरापन मिटनेका नाम ही 'मुक्ति' है।

आजकल अनुभव करनेकी प्रवृत्ति कम हो रही है, सीखनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

अहम्‌के साथ जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, उतना ही मान-अपमानका असर पड़ेगा।

सांसारिक सुखका भी दु:ख हो और दु:खका भी दु:ख हो तो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

— — —

परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है। केवल उधर दृष्टि डालनेकी जरूरत है। कारण कि वह सब देश-कालादिमें परिपूर्ण है। उसकी प्राप्तिमें भाव और विश्वास मुख्य हैं। जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि भगवान् कहाँ हैं? तो प्रह्लादजी बोले कि भगवान् कहाँ नहीं हैं? केवल विश्वास कर लो कि भगवान् सब जगह परिपूर्ण हैं। भक्तिमें विश्वास मुख्य है और ज्ञानमें विवेक।

भगवान् कण-कणमें ठोस परिपूर्ण हैं। कोई जगह उनके बिना खाली नहीं है। जैसे नट पृथ्वीसे अलग होकर नाच

नहीं सकता, ऐसे भगवान्‌से अलग आप कुछ नहीं कर सकते। भगवान्‌को छोड़कर जाओगे कहाँ?

— — —

सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है, और भगवान्‌की प्राप्तिमें भाव तथा विवेककी मुख्यता है। परन्तु क्रिया तथा पदार्थसे हम तभी ऊँचे उठेंगे, जब उन्हें भगवान्‌में लगायेंगे, उनका सदुपयोग करेंगे। सदुपयोग-दुरुपयोग खास चीज है। भगवान्‌ने खेलनेके लिये जीवोंकी रचना की; क्योंकि '**एकाकी न रमते**', पर खेलका दुरुपयोग करके जीवन संसारमें बँध गया। अब सदुपयोगसे ही मुक्ति होगी। सदुपयोगसे कल्याण है, दुरुपयोगसे बन्धन है।

सृष्टिमें अनेकता है, पर परमात्मामें अनेकता नहीं है। मान्यताएँ अलग-अलग होनेपर भी विकाररहित होना सबमें एक है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दुधर्मकी विशेषता है।

— — —

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुकी सत्ता और महत्ता ही बाधक है। 'नहीं' को महत्ता देनेसे 'है' कैसे दीखेगा? विचार करें, जब पहलेवाली अवस्था नहीं रही, तो फिर अभीकी अवस्था कैसे रहेगी? इस ज्ञानका आदर करें। जानते हैं कि नहीं रहेगा, फिर उसको चाहना मूर्खता है। जब यह अवस्था नहीं रहेगी, फिर इसमें बँधे क्यों रहें? इससे ऊँचा उठना चाहिये। जो रहेगा नहीं, उसके भरोसे कैसे बैठे हो? यह शरीर, अवस्था, मान-आदर, धन, कुटुम्ब आदि नहीं रहेंगे—यह पक्की बात है, सबके अनुभवकी बात है, केवल शास्त्रोंमें लिखी बात नहीं!

'नहीं' रहनेवालेका ज्ञान 'है' को ही होता है। 'नहीं' से ऊँचे उठनेपर ही 'है' में प्रियता होगी।

बिना आधारके 'मैं-पन' टिक नहीं सकता। अतः विचार करें कि यह किसपर टिका हुआ है? 'मैं जीता रहूँ'—इसपर मैं-पन टिका हुआ है।

जब असत्‌में महत्त्वबुद्धि है, तो फिर सत्‌में आकर्षण कैसे हो?

शरीर छूटनेका भय क्यों होता है? 'है' तो कभी मिटेगा नहीं, फिर डर किस बातका है? 'है' आपका स्वरूप है।

विचार करें, जीनेकी आशा रखनेसे क्या लाभ है और छोड़नेसे क्या हानि है?

विचार करें, अभी प्राण चले जायँ तो हमारा कौन साथी है? कौन सहारा है?

— — —

संसारपर विश्वास करना जड़ता है। परमात्मापर विश्वास करना चेतनता है। लेनेकी इच्छा जड़ता है। देनेकी इच्छा चेतनता है। देनेकी इच्छा होनेसे जड़ता दूर हो जायगी, चिन्मयता रह जायगी। लेनेकी मुख्यता न होकर देनेकी मुख्यता होनेपर मनुष्य साधक हो जाता है।

शरीरको भोगोंमें न लगाकर सेवामें लगाना स्थूलशरीरकी सेवा है। सबके हितका चिन्तन करना, भगवान्‌का चिन्तन करना सूक्ष्मशरीरकी सेवा है। दूसरोंके हितके लिये स्थिरता, समाधि होना कारणशरीरकी सेवा है। सब कुछ दूसरोंकी सेवामें लगानेसे चिन्मयता शेष रह जायगी।

ज्यादा पुण्य करनेके लिये ज्यादा धन चाहना गलती है। कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा कीचड़ न लगाना ही

बढ़िया है। दान-पुण्य करना एक टैक्स है, जो धन लोगोंपर ही लागू होता है। टैक्स देनेके लिये धन कौन चाहता है?

सबके सुखकी इच्छा बहुत बड़ा दान है। निर्धनता धन आनेसे नहीं मिटती, प्रत्युत धनकी इच्छा छोड़नेसे मिटती है।

सेवासे जड़ता मिटती है और चिन्मयता आती है।

— — —

सृष्टिकी दृष्टिसे देखें तो सब मनुकी सन्तान होनेसे 'मानव' हैं। पंचमहाभूतोंकी, शरीरकी, आत्माकी, परमात्माकी दृष्टिसे देखें तो सब एक हैं। इस एकतामें भी अनेकता है। सब एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। एकता माननसे राग-द्वेष नहीं होंगे; क्योंकि अपनेसे कोई द्वेष नहीं करता, अपनेका कोई बुरा नहीं चाहता। जैसे शरीर एक है तो हम किसी भी अंगकी पीड़ा नहीं चाहते। सब अंगोंका आराम चाहते हैं। ऐसे ही संसारमें सबको सुख पहुँचाना है, किसीको भी दु:ख नहीं पहुँचाना है। यह भारतीय संस्कृतिकी एकता है।

यदि दूसरेके हितका भाव नहीं होगा तो परस्पर एकता कभी नहीं होगी। सब संसार अपना है, पराया नहीं। कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है—इस भावसे सभी सुखी हो जायँगे। इसको अपने घरसे ही शुरू करो। आपके आचरणका दूसरोंपर बड़ा असर पड़ेगा। आचरण न करके केवल उपदेश देना बिना कारतूसकी बन्दूकके समान है, जो आवाज तो करती है, पर मार नहीं करती।

एकमें अनेक और अनेकमें एक है। अन्तमें तत्त्व एक ही है। एक ही परमात्मा अनेक रूपसे हैं। अनेक होते हुए भी एकता नहीं मिटती। समुद्रमें बर्फके अनेक टुकड़े डाल दें तो तत्त्वसे एक जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसा भाव हो जायगा तो फिर मन कहीं भी जाय, परमात्मामें ही जायगा। मनके द्वारा परमात्माका ही चिन्तन होगा।

प्रकृतिकी साम्यवास्थ (एकता)-में प्रलय होता है। परमात्माकी साम्यावस्थामें मुक्ति होती है। प्रकृतिकी एकतामें महान् दु:ख है, परमात्माकी एकतामें महान् आनन्द है। एकता भावसे होती चाहिये, बाहर (व्यवहार)-से नहीं।

— — —

संसारकी जितनी जानकारी (साक्षारता) बढ़ेगी, उतने राग-द्वेष, अशान्ति, संघर्ष बढ़ेंगे। संसारकी जानकारी कामकी नहीं है। उससे ज्यादा आफत होगी। भगवान्‌की जानकारी बढ़ेगी तो शान्ति होगी।

— — —

हरदम सावधान रहो; क्योंकि मानवशरीरका लाभ सावधान रहकर ही ले सकते हैं। मरना अवश्यम्भावी है और अन्तकालीन चिनतन पुनर्जन्ममें कारण है। अत: हरदम सावधान रहें, भजन व भगवच्चिन्तन होता रहे तो फिर जोखिम नहीं है। मनुष्यशरीर अभी हाथमें है। अपना कल्याण करनेमें हम स्वतन्त्र हैं। मनुष्यमें मनुष्यता है-सबका हित कैसे हो और अपना कल्याण कैसे हो? अपना कल्याण करनेसे सबका हित हो जाता है और सबका हित होनेसे अपना हित हो जाता है। जो योग्यता, पद, अधिकार आदि मिला है, उससे दूसरोंकी सेवा करें। मनुष्यशरीर साधनयोनि है। अपने उद्धारका मौका मनुष्यजीवनमें ही है।

सेवा करना मनुष्यका खास काम है। अन्य योनियाँ सेवा नहीं कर सकतीं, उनसे सेवा होती है। देवतालोग केवल डयूटी बजाते हैं।

भोग और संग्रहकी कामनासे ही सब पाप होते हैं। मनुष्यजन्में किये हुए पाप ही चौरासी लाख योनियोंमें भोगे जाते

हैं।

— — —

साधकके लिए सुखेच्छा बहुत बाधक है। बड़े-बड़े भयंकर पाप सुखेच्छासे ही होते हैं। सुखकी इच्छा ही माया है, बन्धन है। सांसारिक सुख पारमार्थिक मार्गमें खास बाधा है।

भाग्यमें जितना लिखा है, उतना ही आयेगा। लोटेको चाहे समुद्रमें एक मील नीचे डुबो दो, पर बाहर निकलेगा तो पानी उतना ही रहेगा।

इच्छासे दु:ख-ही-दु:ख होगा। एकादशीव्रतमें एकने अन्न नहीं लिया और एकको अन्न नहीं मिला। जिसने अन्न नहीं लिया, उसे तो सुख मिलता है, पर जिसे अन्न नहीं मिला, उसे अन्नकी इच्छासे दु:ख मिलता है।

इच्छामात्रसे सांसारिक वस्तु नहीं मिलती, पर परमात्मा मिलते हैं।

— — —

हमारी सृष्टि अहम्‌से ही रची हुई है। अहम् (मैं) मिट जायगा तो हमारे लिये संसार मिट जायगा। जबतक अहंकार है, तबतक संसार है। अहंकारके कारण ही मनुष्य अपनेको एकदेशीय देखता है, अन्यथा वह सर्वव्यापी है—'नित्य: सर्वगत:' (गीता 2।24)।

आँख इतनी बड़ी है कि उससे कितना ही देख लें, वह कभी भरती नहीं। आँखसे भी मन बड़ा है, मनसे बुद्धि बड़ी है, बुद्धिसे अहम् बड़ा है और अहम्‌से भी आप स्वयं बड़े हैं। आपके एक अंशमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं। आप अहम्‌के आश्रय, आधार, प्रकाशक और अधिष्ठान हैं। आप अहम्‌के आश्रित नहीं हैं। आपके एक देशमें अहम् है। आपकी एकता परमात्मासे है। आप अहम्‌से रहित हैं। गाढ़ नींदमें अहम् नहीं रहता, पर आप रहते हैं। आपके भीतर अनन्त ब्रह्माण्ड हैं।

मुक्ति होती नहीं। मुक्ति स्वत:सिद्ध है। आप स्वत:मुक्त हैं। संसार स्वत: आपसे अलग है। ज्ञान और प्रेम स्वत: आपमें हैं। जैसे पहेलीका पता चलता है, ऐसे स्मृति जाग्रत होती है।

— — —

शरीर-संसारसे हमारा निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। हमारा काम इतना ही है कि जिससे सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद स्वीकार कर लें। परमात्माके साथ स्वाभाविक सम्बन्धको स्वीकार कर लें। संसारसे हमने सम्बन्ध माना है, इसलिये कहते हैं कि सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध है ही नहीं। हम परमात्मामें हैं, परमात्मा हमारेमें हैं। संसार तो अलग बह रहा है।

शरीरके साथ सम्बन्ध स्वत: नहीं है। केवल हमने व्यसनकी तरह शरीरके सम्बन्धको पकड़ा हुआ है।

— — —

मनुष्यके एक तरफ संसार है, एक तरफ परमात्मा हैं। सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा जड़ता है, परमात्माकी इच्छा चिन्मयता है। दोनोंकी इच्छा होनेसे जीवन होता है। संसारकी इच्छा मुख्य होनेसे वह संसारी हो जाता है, परमात्माकी इच्छा मुख्य होनेसे वह साधक हो जाता है। साधन करना मनुष्यका काम है, संसार या परमात्माका काम नहीं। साध

ानका अधिकारी मनुष्य है।

भगवान्‌का चिन्तन, भजन संसारेसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये है। संसारके सम्बन्धसे अनेक पाप होते हैं। परमात्माके सम्मुख होनेसे उन्नति-ही-उन्नति होगी, संसारके सम्मुख होनेसे पतन-ही-पतन होगा। शरीर संसारका है, उसे संसारकी सेवामें लगा दें। हम परमात्माके हैं, हम परमात्मामें लग जायँ। संसारसे सम्बन्ध हमने जोड़ा है; अतः इसे तोड़नेकी जिम्मेवारी भी हमारेपर है।

जीव भगवान्‌को भूला है। भगवान् जीवको नहीं भूले हैं। जैसे माँका बालकपर स्वतः स्नेह, अपनापन होता है, ऐसे ही भगवान्‌का जीवपर स्वतः स्नेह, प्यार, अपनापन है।

परमात्माकी तरफ चलनेवालेका सभी साथ देते हैं। जैसे, गंगोत्रीसे गंगाकी छोटी-सी धारा समुद्रकी तरफ चलती है तो सभी नदी, नद, झरने आदि उसमें मिलते जाते हैं। परनतु पानीकी बड़ी धारा भी खेतोंमें ही विलीन हो जाती है। ऐसे ही संसारकी तरफ चलनेवाला संसारमें ही रह जाता है अर्थात् जन्मता-मरता रहता है।

संसारकी चाहना पतनका कारण है, भगवान्‌की चाहना उद्धारका कारण है।

— — —

सबका वर्तमान निर्दोष है। दोष आगन्तुक हैं। आगन्तुक दोषोंको अपनेमें न मानें। आप स्वरूपसे निर्दोष हैं। दोषोंको अपनेमें स्थापन न करें। दोषोंका ज्ञान दोषोंको होता है या निर्दोषको? काला टीका सफेदमें दीखता है, न कि कालेमें। दोष अनित्य हैं। निर्दोषता नित्य है। जबतक आप दोषोंको सत्ता और महत्ता देंगे, तबतक वे आयेंगे। दोष विद्यमान नहीं हैं—**'नासते विद्यते भावः'** (गीता 2। 16)। निर्दोषता आपका स्वरूप है—***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***।

मेरेमें दोष हैं—इस भावनासे अपनेमें दोष आते हैं। मैं निर्दोष हूँ—यह अनुभव है, भावना नहीं।

अपनी निर्दोषताका ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है, जीवमुक्ति है।

— — —

तत्त्वको जाननेवाला अनुभव ही वास्तविक होता है। तत्त्वको जाननेवाले दो हैं—भगवान् और उनके भक्त। दोनोंकी ही दृष्टिमें संसार नहीं है, केवल परमात्मा ही हैं। संसार जीवकी दृष्टिमें है।

संसारकी सत्ता मानकर साधन करनेसे संसारकी सत्ता दूरतक साथ रहती है। अतः पहलेसे ही सन्तोंकी बात मान लें कि सब कुछ परमात्मा ही हैं। हमारेको अनुभव हो चाहे न हो, हैं तो सब परमात्मा ही।

संसारको सत्य मानकर उससे सम्बन्ध रखते हुए कितना ही साधन करो, वर्तमानमें सिद्धि नहीं मिलेगी।

गुण हर समय रहता है, पर दोष आता-जाता है। दोषके समयमें भी गुण है। गुण ही दोषको सत्ता देता है।

— — —

निषेधात्मक साधनमें न परिश्रम होता है, न खर्च। अतः किसीका भी अहित न करना सुगम है। परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध है। केवल आवरणका निषेध करना है। निषिद्धका त्याग करनेपर विहित स्वतःस्वाभाविक होता है। पारमार्थिक मार्गमें न करनेयोग्य कार्य न करनेसे सिद्धि होती है। अन्तमें ज्ञान स्वरूपका नहीं होता, प्रत्युत असत्‌का ज्ञान

होता है।

त्यागसे तत्काल शान्ति होती है। जाने हुए असत्का त्याग कर दें, फिर न जाने हुए असत्का त्याग सुगम हो जायगा। विहित ग्रहण करनेकी अपेक्षा निषिद्धके त्यागकी महिमा ज्यादा है।

— — —

एक 'यह' है, एक 'मैं' है और एक 'है' है। 'यह' भौतिक दर्शन है, 'मैं' आध्यात्मिक दर्शन है और 'है' आस्तिक दर्शन है। 'मैं' के दो भाग हैं—'मैं' और 'हूँ'। 'मैं' अपरा है और 'हूँ' परा। 'हूँ' में प्रकृति और परमात्मा दोनोंका अंश है।

उपार्जित वस्तु बड़ी नहीं होती, प्रत्युत उपार्जन करनेवाला बड़ा होता है। धन उपार्जित वस्तु है।

हम 'पर' का जितना संग करते हैं, उतना ही पतनमें जाते हैं, उतने ही पराधीन हो जाते हैं।

धन और भोगकी आसक्ति महान् पतन करनेवाली है। भगवान्की तरफ चलनेवाला जीते-जी संसारसे मुक्त हो जाता है।

— — —

देवताओंका शरीर बहुत दिव्य है। उन्हें मनुष्यशरीरसे दुर्गन्ध आती है। ऐसा होनेपर भी वे मनुष्य-जन्म चाहते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्यशरीर 'मनुष्यता' का नाम है। शरीर मुख्य नहीं है, मनुष्यता मुख्य है। मनुष्य उस महान् आनन्दको प्राप्त कर सकता है, जिससे दु:खका लेश भी नहीं है।

मनुष्यशरीरमें विवेकशक्तिकी महिमा है। उसमें भी विवेकशक्तिके सदुपयोगकी महिमा है। परमात्माकी प्राप्ति कर लेना ही सच्ची मनुष्यता है।

क्रोधका कारण है—कामना और अभिमान। क्रोधसे बचना चाहते हो तो कामना और अभिमानका त्याग कर दो। क्रोधका सुख लेनेसे क्रोध भीतर बैठा हुआ है। उसका सुख मत लो।

भगवान्ने किसी भी जीवका त्याग नहीं किया है, जीवन ही भगवान्से विमुख हुआ है।

किसी भी वस्तुको आप सदा अपने साथ नहीं रख सकते, पर उसे 'मेरी' माननेसे आप बँध जाते हैं और वह वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है। उसे 'मेरी' न मानकर भगवान्का माननेसे वह वस्तु शुद्ध हो जाती है, प्रसाद बन जाती है। यदि आप सच्चे हृदयसे पुत्रसे ममता हटा लो और उसे भगवान्को सौंप दो तो उसका स्वभाव सुधर जायगा!

भगवान्का हो जानेके बाद कोई दु:ख भी आता है तो उसमें बड़ा आनन्द आता है।

'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—यह सर्वश्रेष्ठ बात है, जो मुझे इन वर्षोंमें मिली!

शरीर मुख्य नहीं है, आप स्वयं मुख्य हो।

— — —

मनुष्यजन्ममें हम पूर्ण उन्नति कर सकते हैं। दु:ख तो रहे नहीं और महान् शान्ति, आनन्द मिल जाय—यह स्थिति हम इस शरीरमें प्राप्त कर सकते हैं। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है।

विवेककी महिमा सदुपयोग करनेमें है। उस विवेकके सदुपयोगके कारण ही मनुष्यशरीरकी महिमा है।

जो वस्तु अपनेसे अलग होती है, वह अपनी नहीं होती।

घड़ी बन्द होनेपर फिर चाबी भर सकते हैं, पर श्वास बन्द होनेपर फिर चाबी (श्वास) नहीं भर सकते।

साधन करने रहनेपर भी सुख लोलुपताके कारण साधनकी सिद्धि नहीं होती। सुखेच्छाके रहते हुए शुद्ध साधन नहीं होता। सुखकी कामना ही दु:खोंकी, पापोंकी जड़ है। सुखकी इच्छा उन्नति नहीं होने देती। आरामकी इच्छा मुख्य रहेगी तो भजन गौण रहेगा।

बिना सत्संग किये केवल पुस्तकोंसे प्रकाश नहीं मिलता। सत्संग करके फिर पुस्तकें पढें, तब बात खुलती है।

पैसा कमानेके लिये तो अनुकूलताका त्याग कर देते हैं, पर भजनके लिये अनुकूलताका त्याग नहीं करते—यह बाध ा है। रुपयोंकी, जीते रहनेकी जितनी इच्छा है, उतनी भगवान्‌की इच्छा है क्या?

विचार करें, लोग हमें अच्छा कहेंगे तो क्या हम अच्छे हो जायँगे? क्या भगवान् हमें अच्छा मान लेंगे?

सुखकी इच्छासे सुख नहीं मिलता—यह नियम है। सुखकी आशा पारमार्थिक मार्गमें महान् बाधक है। यदि पारमार्थिक उन्नति चाहते हो तो संसारका सुख छोड़ना पड़ेगा।

बेटा सपूत होगा तो धन कमा लेगा और कपूत होगा तो धन उड़ा देगा, फिर क्यों मेहनत करते हो? ज्यादा धन होगा तो बेटोंका पतन होगा, वे आलसी-प्रमादी बनेंगे।

असली 'बनिया' वह है, जो बन जाय! बिगड़ जाय तो बनिया क्या?

जबतक एक भी प्राणी बन्धमें है, तबतक हम सन्तोष कैसे करें?

— — —

जबतक आपके भीतर दूसरेके अहितकी बात रहेगी, तबतक उन्नति नहीं हो सकती। दूसरेके लिये कभी बाधक मत बनो। दूसरेको तकलीफ न हो—इस बातकी तरफ विशेष खयाल रखो। आज ही यह शिक्षा ले लो कि हमारे द्वारा किसीको भी तकलीफ न पहुँचे। यह परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। कम-से-कम इस बातका ध्यान रखो कि हमारे द्वारा किसीको भी तकलीफ न हो।

परमात्मामें प्रेम होनेका नाम 'सत्संग' है। सत्संग होनेपर सद्भाव, सत्कर्म और सच्चर्चा स्वत: होंगे। किसीको भी तकलीफ न हो—यह विचार हो गया तो सत्संग हो गया। किसीको तकलीफ दी तो दु:खका बीज बोया गया।

किसीको बुरा न समझना भी सत्संग है। प्रत्येक मनुष्य भीतरसे परमात्माका अंश है। हमें परमात्माकी तरफ देखना है, बुराईकी तरफ नहीं। दूसरी बात, कोई भी मनुष्य सर्वांशमें बुरा नहीं होता, सबके लिये बुरा नहीं होता और सब समय बुरा नहीं होता।

किसीका बुरा न चाहना, किसीको बुरा न मानना और किसीका बुरा न करना—इन तीन बातोंको जो मान लेगा, वह सन्त हो जायगा।

— — —

हम समय भगवान्‌का स्मरण करो, न जाने कब अन्तकाल आ जाय! जो चिन्तन 'करते' हैं, वह नकली है और जो चिन्तन 'होता' है, वह असली है। चिन्तन करते हुए कार्य करना—इसमें 'चिन्तन' मुख्य है। कार्य करते हुए चिन्तन

करना—इसमें 'चिन्तन' गौण है। उत्तम साधक वह है, जो चिन्तन करते हुए कार्य करता है। सांसारिक कार्य तो बिगड़ेगा ही, सुधर जायगा तो भी अन्तमें बिगड़ेगा।

जिससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिसमें आकर्षण होता है, उसका चिन्तन स्वतः होता है। 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह चिन्तन हर समय नहीं होता, पर इसमें भूल नहीं होती। मैं-पनको बदलनेसे भूल नहीं होती। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार मैं-पनको बदल दें। मैं भगवान्‌का हूँ—यह सच्ची बात है, जो कभी मिटती नहीं।

रोगी व्यक्तिको भगवान्‌का स्मरण कराना सबसे बड़ी और सच्ची सेवा है।

सत्संगके द्वारा अपने मैं-पनको बदल लें कि आजसे मैं भगवान्‌का हूँ। विवाहमें एक ब्राह्मणके कहनेसे आप अपनेको पतिका मान लेती हैं, अब एक साधुके कहनेसे मान लो कि हम भगवान्‌के हैं! वास्तवमें आप सदासे स्वतः भगवान्‌के हैं। स्त्री-पुरुषका शरीर तो बाहरका चोला है। मैं केवल आपको याद दिलाता हूँ कि आप भगवान्‌के हैं। अर्जुनने भी गीताके अन्तमें कहा था—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता 18 । 73) 'मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है।'

— — —

संसार सुख लेनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सुख देनेके लिये है।

भगवान्‌की तरफ चलनेसे निर्मलता स्वतः आती है।

सन्त-महात्माओंकी बातें सुननेके बाद ये बातें पुस्तकोंमें, शास्त्रोंमें भी मिल जाती हैं और समझमें आ जाती है, जबकि पहले पुस्तकें पढ़नेपर भी वे ठीक समझमें नहीं आतीं।

जैसे काँटा निकालते समय दर्द तो होता है, पर दुःख नहीं होता, प्रत्युत काँटा निकल रहा है—इसका सुख होता है। ऐसे ही ज्ञान होनेपर पीड़ाका अनुभव तो होगा, पर दुःख नहीं होगा। व्रत-उपवास करनेपर अन्न न मिलनेका दुःख नहीं होता। परन्तु बिना व्रतके अन्न न मिले तो दुःख होता है कि आज न जाने प्रातः किसका मुख देखा जो अन्न नहीं मिला! दवाई कड़वी लगती है, पर उससे रोग कटता है। प्रतिकूलतामें हमारा कर्जा उतरता है, पाप फल भुगताकर नष्ट होता है।

— — —

विवेकको लेकर ही मनुष्यशरीरकी महिमा है। भगवान्‌ने संसारमात्रके कल्याणके लिये विवेक दिया है। विवेक मनुष्यमें स्वतः है। विवेकका आदर करना, उसको महत्त्व देना साधकका काम है।

शरीरको मैं-मेरा मानना असत्‌का संग है। शरीरको मैं-मेरा न मानना सत्‌का संग है। शरीरका सदुपयोग है—संसारकी सेवा करना और भगवान्‌को याद करना। व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी भीतरसे शरीरको मैं-मेरा न मानें।

जो चीज सबकी है, वही हमारी हो सकती है। जो सबकी नहीं है, वह हमारी नहीं हो सकती। परमात्मा सबके हैं। परमात्माके सिवाय कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जो सबकी हो। अतः एकमात्र परमात्मा ही हमारे हैं।

संसारका अंश संसारको दे दो और परमात्माका अंश परमात्माको दे दो—इसका नाम 'मुक्ति' है।

— — —

धर्मके लिये भी धन लेना तो दूर रहा, धन कमाना भी ठीक नहीं है। शास्त्रमें आया है—

यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी।।

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्। (पद्मपुराण, सृष्टि० 19। 251-252)

'जिस धर्मके लिये धन-संग्रहकी इच्छा होती है, उसके लिये उस इच्छाका त्याग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि कीचड़को लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है।'

कपड़ेमें कीचड़ लग जाय तो पानीसे धोनेपर भी वह पूरा नहीं छूटता। धर्म धनके अधीन नहीं है। धर्मके लिये भी धन लेनेपर धनका महत्त्व ही बढ़ता है। बम्बईमें मेरे सामने गायोंके लिये धन इकट्ठा करनेके उद्देश्यसे सत्संग-स्थलपर पेटियाँ रखनेकी बात कही गयी तो मैंने कहा कि मैं यहाँ धर्मका महत्त्व बढ़ाने आया हूँ, धनका महत्त्व बढ़ाने नहीं आया हूँ।

भगवान्‌के यहाँ रुपयोंकी संख्या नहीं देखी जाती, प्रत्युत शक्ति देखी जाती है। जिसके पास सौ रुपये हैं, वह एक रुपया दान कर देता है। ऐसे ही करोड़पतिने एक लाख रुपया दान किया तो वास्तवमें उसने एक रुपया ही दिया, पर देखनेमें वह बड़ा दानी दीखता है। जिसके हृदयमें रुपयोंका महत्त्व है, वह दान नहीं कर सकता। शुभ कार्यमें पैसा लगाना बड़ा कठिन है। रुपये कमानेमें तो सब साथ देंगे, पर दान करनेमें सब साथ नहीं देंगे।

संसारकी एक वस्तुको लेनेसे उसके साथ अनेक आफतें पैदा हो जाती है। एक मोटर लेते हैं तो आफतोंकी लाइन लग जाती है कि ड्राईवर चाहिये, पेट्रोल चाहिये, लाइसेंस चाहये आदि। कोई सम्बन्धी या पड़ोसी मोटर माँग लेता है तो आफत! मोटर दे तो मोटर खराब, और मोटर न दे तो मन खराब! आप समझते हैं कि हम मोटरपर चढ़ते हैं, पर वास्तवमें मोटर आपपर (हृदयपर) चढ़ती है! मैं पैसा पासमें नहीं रखता तो वास्तवमें मोटरपर मैं ही चढ़ता हूँ! पेट्रोल समाप्त हो जाय तो चिन्ता नहीं, मोटर खराब हो जाय तो चिन्ता नहीं!

पुण्य रुपयोंसे नहीं होता, प्रत्युत त्यागसे होता है। त्यागका जो असर पड़ता है, वह रुपयोंका नहीं पड़ता।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) किसी अभावग्रस्तको रुपया देते थे तो कहते थे कि न तो मैंने दान दिया है और न कर्जा ही दिया है। मैंने तो रुपया अपने घरखर्चेमें लिख दिया। अब तुम्हें ग्लानि हो तो दे देना, नहीं तो मत देना। वे दूसरेको पैसा देकर उसपर अहसानका भार नहीं डालते थे।

कल्याण रुपयोंसे नहीं होता, उदारभावसे होता है। उदारता साथमें चलेगी।

अच्छे काममें देरी मत करो; क्योंकि काल सबको खा जाता है। अच्छे कामकी मनमें आये तो तुरन्त कर दो और बुरेकी मनमें आये तो देरी कर दो।

— — —

परमात्मा कण-कणमें परिपूर्ण हैं। वे कभी किसीको अप्राप्त नहीं हो सकते और कभी किसीसे दूर नहीं हो सकते। ऐसा कोई कण नहीं, जिसमें परमात्मा परिपूर्ण न हों, और ऐसा कोई कण नहीं, जिसका वियोग न हो रहा हो। संसार स्वत: ही अलग हो रहा है। संसार अभीतक किसीको नहीं मिला।

परमात्माको प्राप्त करना है और संसारका त्याग करना है—इन दोनों धारणाओंका हमें त्याग करना है।

संसार जा रहा है, पर यह कहना कि 'संसार रह रहा है'—यह पागलपना है। जो नहीं है, उसे 'है' मानना और जो है, उसे 'नहीं' मानना—यह उलटी बुद्धि है। इस विपरीत धारणाको मिटाना ही मुक्ति है।

'नहीं' में 'हैं'-बुद्धि ही परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा है।

— — —

रामायणमें उर्मिलाका सतीत्व बहुत विलक्षण है। लक्ष्मणजी सेवाके लिये रामजीके साथ वनमें गये थे। अतः लक्ष्मणजीकी सेवामें बाधा न पड़े, इस विचारसे उर्मिला लक्ष्मणजीके साथ नहीं गयीं। रामजीने सीताको साथमें इसलिये नहीं लिया कि आराम देगी, प्रत्युत इसलिये लिया कि मेरे वियोगमें यह मर जायगी। कारण कि सीताजीने कह दिया था कि यदि आपको विश्वास है कि मैं आपके बिना जी जाऊँगी तो साथमें मत ले जाओ। दूसरी बात, सीताजी इसलिये साथ गयीं कि उनके बिना लीला पूरी नहीं होती।

श्रोता—अशुद्ध अवस्थामें भगवान्‌का नाम लेना चाहिये या नहीं?

स्वामीजी—जरूर लेना चाहिये। अशुद्ध अवस्थामें भगवान्‌का नाम नहीं लेना—यह भाव रहेगा तो बड़ी हानि हो जायगी। कारण यह है कि अन्तकालमें रोग आदिके कारण प्रायः अशुद्धि रहती है, फिर नाम लिये बिना मर गये तो क्या दशा होगी? नामजप तो श्वाससे भी अधिक मूल्यवान है। क्या अशुद्ध अवस्थामें श्वास नहीं लेते?

अधिक बीमार व्यक्तिको सांसारिक लाभ-हानिकी बातें मत सुनाओ। छोटे बच्चोंके उसके पास मत ले जाओ; क्योंकि बच्चोंमें स्नेह अधिक होता है; अतः वृत्ति उधर चली जायगी।

अशुद्ध अवस्थामें (मासिकधर्मके समय) माताएँ, तुलसीकी मालामें जप न करके काठकी मालामें जप करें। गंगाजीकी धारामें स्नान न करके गंगाजल माँगकर घरमें स्नान करें। तुलसीकी कण्ठी पहन सकती हैं; क्योंकि कण्ठी हर समय रहनी चाहिये।

स्त्रीको गायत्री-मन्त्रका जप नहीं करना चाहिये। आजकल गायत्री-मंत्रका जप वे स्त्रियाँ करती हैं, जिनके भीतर अभिमान है कि हम छोटे क्यों रहें? अपना कल्याण चाहनेवाली स्त्री गायत्री-जप नहीं करेगी। जिसके भीतर अभिमान है, वह पण्डित भी हो तो नरकोंमें जायगा। भगवन्नामका जप गायत्री-जपसे कम नहीं है। भगवन्नाम-जपमें सभीका समान अधिकार है। पर जिसने यज्ञोपवीत धारण न किया हो, ऐसे ब्राह्मणको भी गायत्री-जपका अधिकार नहीं है।

— — —

जैसे पुत्रका पितापर हक लगता है, ऐसे ही भगवान्‌पर हमारा हक लगता है। पर संसारपर अपना हक जमानेसे हमें उस हककी भूल हो गयी। जो चीज अपनी नहीं है, उसे अपना मान लिया—इस बेईमानीसे ही सब दुःख हुए हैं।

धन-सम्पत्ति, परिवार आदिको कितना ही पकड़ लो, पर वह तो छूटेगा ही। छूटेगा तो रोओगे, छोड़ दो तो आनन्द हो जायगा!

संसारके सब काम तो दूसरे ही कर देंगे, पर रोना आपकी ही पाँतीमें आयेगा!

— — —

व्याकरणमें 'नाश' का अर्थ अभाव नहीं है, प्रत्युत अदर्शन (लोप) है। शरीर नाशवान् है अथवा परिवर्तनशील

है—इसमें 'सावित्रीं प्रवणं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति,......सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात्स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति।। (नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् 1। 3)'गायत्री, प्रणव तथा यजुःस्वरूप महालक्ष्मी मन्त्रका उपदेश ज्ञानिजन स्त्रियों और शूद्रोंको नहीं देना चाहते।...... गायत्री, प्रणव और यजुर्वेदमय महालक्ष्मी मन्त्रको यदि स्त्री और शूद्र जान लें तो वे मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् नरकों और नीची योनियोंमें गिरते हैं। इसलिये सदा ही सावधान रहकर उनको इन मन्त्रोंका उपदेश न दे। यदि कोई उन्हें उपदेश देता है तो वह आचार्य भी उन्हींके साथ मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होता है।' अनेक मतभेद हैं। हमारा निर्णय यह है कि शरीर-संसार हमारे कामके नहीं है। हमारे कामके भगवान् हैं।

मुझे कोरी दार्शनिक बातें अच्छी नहीं लगती। दार्शनिक विचारसे कोई लाभ नहीं! मुझे वह बात अच्छी लगती है, जो अनुभवमें आ जाय।

जैसे आकाशका अन्त नहीं आता, ऐसे ही ज्ञानका भी अन्त नहीं आता। मुझे अभी भी नयी-नयी बातें मिलती हैं। मेरे मनमें यही बात आती है कि जीवका कल्याण कैसे हो?

संसारका कोई भी विष्य निरन्तर प्यारा लग सकता ही नहीं। उससे अरुचि होती ही है।

सभी दर्शन 'इदंता' से शुरू हुए हैं, पर गीताकी विलक्षणता है कि यह 'अहंता' से शुरू हुई है। गीताकी जैसे शुरूआत है, वैसी किसी दर्शनकी नहीं है। दर्शन बातें सिखाते हैं, पर गीता अनुभव कराती है। गीता आपके खुदके अनुभवसे शुरू होती है। गीता भगवान्‌का वचन है, आचार्योंका वचन नहीं। भगवान् सिखाते नहीं हैं, प्रत्युत आपके शोक-चिन्ता मिटाते हैं।

बचपनमें रंगीन काँचके टुकड़े बड़े मूल्यवान दीखते थे, पर आज उनका कोई मूल्य नहीं है। ऐसे ही वैराग्य होनेपर रुपये, सोने-चाँदी आदिका कोई मूल्य नहीं रहता।

अनजानमें कोई पाप बन गया हो तो आर्तभावसे रोकर भगवान्‌को पुकारो। उनसे प्रार्थना करो। भगवान्‌के समान कोई दयालु नहीं है। आगेसे पाप मत करो।

कामना मिटाना चाहते हैं, पर मिटती नहीं तो भगवान्‌को पुकारो।

— — —

उत्पन्न-नष्ट होनेकी परम्परा हमारे देखनेमें आती है। वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशें विनाश ही मुख्य है। संयोग-वियोगमें वियोग ही मुख्य हे। स्थिति-प्रलयमें प्रलय ही मुख्य है। परमात्माके साथ नित्योग है। उससे विमुखता हमारी की हुई है। जबतक संसारकी प्राप्तिकी लालसा है, तबतक परमात्माकी नित्यप्राप्तिका अनुभव नहीं होता। संसारको चाहे कैसे ही मानें, उसका वियोग नित्य है।

परमात्मासे विमुख होनेपर संसार पक्का दीखता है। परमात्माके सम्मुख होनेपर संसार कच्चा हो जाता है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर संसार मिट जाता है। मार्मिक बात यह है कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध असत्य है।

— — —

प्रतीक्षामें भगवान्‌का चिन्तन विशेषतासे होता है। शबरी प्रतीक्षामें थी। भगवान् ऋषियोंके आश्रम छोड़कर उसकी कुटियामें पधारे। अधिक प्रेममें जैसे भक्त अपने-आपको भूल जाता है, ऐसे भगवान् भी प्रेममें अपने-आपको भूल

जाते हैं। विदुरानी केलेके छिलके खिलाती है तो भगवान् वही प्रेमसे खाते हैं। विदुरानीको पता नहीं है कि मैं छिलका दे रही हूँ और भगवान्‌को भी पता नहीं है कि मैं छिलका खा रहा हूँ! बढ़िया भोजन वही होता है, जिसमें खिलानेवालेको ज्यादा आनन्द आता है।

जिसके हृदयमें जड़ चीजोंका आदर होता है, उसका हृदय अशुद्ध होता है। वह भगवान्‌को नहीं जान सकता। ध ृतराष्ट्रके हृदयमें पक्षपात् (**'मामकाः'** व **'पाण्डवाः'**) था, इसलिये वे भगवान्‌को नहीं जानते थे। कुन्ती, विदुद, संजय और भीष्म—ये भगवान्‌को विशेष जानते थे।

'मानउँ एक भगति कर नाता' (मानस, अरण्य० 35। 2)—भगवान् भक्तिका नाता मानते हैं, ब्राह्मण-शूद्रादिका नाता नहीं। भगवान्‌की भक्तिमें वर्ण-आश्रम आदिका विचार नहीं होता। विधि, व्यवहारमें ब्राह्ममणदिका विचार होता है। वर्ण-आश्रम शरीरके धर्म हैं। भक्त स्वयं होता है, शरीर नहीं। स्वयं भगवान्‌का अंश है, शरीर चाहे जैसा हो। सेवामें नीचा-से-नीचा काम भी ऊँचा होता है। भक्ति और तत्त्वज्ञान स्वयंके हैं, शरीरके नहीं। जहाँ जातिका अभिमान होता है, वहाँ भक्ति होनी बड़ी कठिन है। अभिमानी व्यक्ति भक्त नहीं हो सकता।

जातिका विचार विधि-विधानमें, रोटी-बेटीके व्यवहारमें होता है। भक्तिमें जातिका विचार नहीं होता।

— — —

जो संसार दीखता है, वह स्थिर रहता है क्या? संसार निरन्तर अभावमें जा रहा है। उसमें जो 'है'-पन दीखता है, वह परमात्माका है। जैसे बादल, वर्षा, ओले, बिजली आदि सब आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही लीन होते हैं, पर आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थ परमात्मामें ही उत्पन्न होते हैं और परमात्मामें ही लीन होते हैं, पर परमात्मा 'है'-रूपसे ज्यों-के-त्यों रहते हैं। परमात्मामें कुछ फर्क पड़ता ही नहीं।

परमात्माको हृदयसे माननेपर उनकी प्राप्तिकी इच्छा होती है।

सत्संग-कीर्तन अन्नप्राशन संस्कार है। अन्नप्राशन संस्कारमें लगती है, जिससे वह अन्न खाना सीख जाता है। ऐसे ही सत्संग-कीर्तनसे साधकको कुछ-कुछ रस आने लगता है, जिससे वह परमात्मामें लग जाता है।

— — —

मोह खास बाधक है—***'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'*** (मानस, उत्तर० 121। 15)। अर्जुनने गीताके अन्तमें कहा—***'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'*** (18। 73)। भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें कहा था—**'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं०'**; परन्तु अन्तमें भगवान्‌ने यह नही पूछा कि तेरा शोक नष्ट हुआ कि नहीं, प्रत्युत यह पूछा कि तेरा मोह नष्ट हुआ कि नहीं—**'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय'** (18। 72)। अर्जुनने कहा कि आपकी कृपासे मोह नष्ट हुआ। कृपासे जो लाभ होता है, वह श्रवण-शास्त्राध्ययन आदिसे नहीं होता। कारण कि कृपासे जो वचन निकलते हैं, वे बड़ा असर करते हैं। गीता कृपासे ही समझमें आती है, विद्वत्तासे नहीं।

भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतनाम्'** (गीता 5। 29)। अतः कोई भी प्राणी कैसा ही हो, भगवान्‌के सम्मुख हो सकता है। सभी उनकी शरण हो सकते हैं। जो अपना कुछ भी बल मानता है, वह शरण नहीं हो सकता। किसी भी चीजका अभिमान न हो। कंगला भी करोड़पतिकी गोदमें बैठकर बिना कुछ किये करोड़पति हो सकता है।

अभिमान सबसे भयंकर दोष है। इससे सावधान रहो। अभिमान काम-क्रोध-लोभका मूल है। भगवान्‌की कृपाको न माननसे अभिमान आता है। मोह नष्ट होनेपर फिर अभिमान नहीं रहता।

साधन बहुत हैं, पर सबसे श्रेष्ठ साधन है—शरणागति। इसे भगवान्‌ने 'सर्वगुह्यतम' कहा है। केवल एक ही बात है कि हे नाथ! मैं आपका हूँ।'

शरणागत होनेके बाद अपनेमें कोई कमी दीखे तो समझो कि कमी आयी नहीं, जा रही है। उसे आया हुआ मत मानो। शरणागतिको मत छोड़ो, नही तो ये चोर-डाकू (काम-क्रोधादि) तंग करेंगे। कमी दीखे तो 'हे नाथ! हे नाथ! पुकारो। रक्षा करना भगवान्‌का काम है। गोस्वामीजी महाराज भगवान्‌से कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा।।

अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा।। (विनय० 125। 2-3)

— — —

अभिमान छोड़कर भगवान्‌की शरण हो जायँ। अलग अपना कुछ न रखें। अन्य किसीका आश्रय न रखें। शरणागति नींद लेनेकी तरह बहुत सुगम है, पर अभिमानवालेके लिये कठिन है। जीव स्वत: परमात्माका है, अत: आश्रय लेना इसका स्वभाव है।

भक्तोंपर भगवान्‌का विशेष प्रेम है। भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है और भगवान्‌को भक्तकी सेवामें आनन्द आता है।

भगवान् हमारेसे दूर नहीं रह सकते। वे सदा हमारे साथ हैं और सदा हमारे साथ रहेंगे—यह बात आज ही स्वीकार कर लें। भगवान् हमारे भीतर हैं—यह हमारे पास सबसे बड़ा गुप्त खजाना है! हमारे कण-कणमें भगवान् विराजमान हैं। यदि इस बातको आप भूल जाते हैं तो इसे भगवान्‌के कोशमें जमा कर दो कि 'हे नाथ! मैं इस बातको भूल जाऊँ तो आप याद करा देना!'

कोई काम करना हो तो मनसे भगवान्‌को देखो। भगवान् प्रसन्न दीखें तो वह काम करो और प्रसन्न न दीखें तो वह काम मत करो। यह एक गुप्त साधन है। एक-दो दिन करोगे तो पता चलने लगेगा।

— — —

परमात्माकी प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर किसी कामका नहीं है।

मनुष्यशरीरकी उम्र श्वासोंपर निर्भर है, वर्षोंपर नहीं। जैसे, घड़ी चाबीपर निर्भर होती है। श्वासोंकी गिनती पूरी होते ही मरना पड़ेगा। भोग भोगते समय श्वास तेजीसे चलते हैं, जिससे आयु जल्दी समाप्त हो जाती है। भोग भोगनेसे शरीर जल्दी मरता है। एक दिनमें 21, 600 श्वास नष्ट हो रहे हैं, रोज कितना घाटा लग रहा है! पर इस घोटेकी पूर्ति नहीं हो सकती। वास्तवमें हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत मर रहे हैं। जिस मौतसे सभी डरते है, वह मौत प्रतिक्षण समीप आ रही है। कहते हैं कि रुपयोंसे सब कुछ मिलता है, पर उम्र भी मिलती है क्या?

कल्याण करनेवाली तात्त्विक बातें मुझे पुस्तकोंसे नहीं मिली हैं, सन्तोंसे मिली है। सन्तोंसे मिलनेके बाद फिर पुस्तकोंसे मिली हैं।

इस समय पापोंकी लहर चली है! पतनका मौका आया है! अत: सावधान रहकर इससे बचो।

— — —

कोई भी परिस्थिति रहनेवाली नहीं है। अभी जो है, वह क्या ठहरेगी? इसपर स्वयं विचार करो। जबतक परमात्मा नहीं मिले, तबतक क्या हो गया? गुरु बना लिया, चेला बन गये तो क्या हो गया? क्या आप कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य, प्राप्तप्राप्तव्य हो गये?

बाहरसे यथायोग्य सब काम करते हुए भी भीतरमें आनन्द रहे, चिन्ता न रहे। बाहर चाहे जैसी परिस्थिति आये, भीतरका आनन्द कम नहीं होना चाहिये।

अन्न-जल सब जगह नहीं मिलते। उनको लेनेके लिये कहीं जाना पड़ता है। परन्तु श्वास लेनेके लिये कहीं जाना पड़ता है? कोई उद्योग करना पड़ता है? परमात्मा इन श्वासोंसे भी सस्ते हैं!

पारमार्थिक मार्गमें याद करना नहीं पड़ता, पर भूल होती नहीं। तृप्ति होती नहीं, पर भूख रहती नहीं!

— — —

ज्ञानरूपी प्रकाशमें अनन्त संसार दीखता है अर्थात् हमारे जाननमें आता है; परन्तु प्रकाशमें कोई बाधा नहीं लगती। प्रकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। आधिभौतिक प्रकाश तो बाहर प्रकाश करता है, पर आधिदैविक प्रकाश बाहर-भीतर दोनों जगह प्रकाश रहता है। आध्यात्मिक प्रकाश उससे भी ऊँचा है।

परमात्मप्राप्तिकी विद्या है—परमात्मासे मित्रता कर लो और संसारसे मित्रता तोड़ दो।

स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदि सबके चोले (शरीर) अलग-अलग हैं, पर उनमें भगवान्का अंश एक ही है। सृष्टिकी दृष्टिसे भी हम सब एक (पांचभौतिक) हैं, आत्माकी दृष्टिसे भी एक हैं और परमात्माकी दृष्टिसे भी एक हैं। व्यवहारमें अनेकता लाभदायक है। तत्त्वमें एक होना आवश्यक है और संसार (व्यवहार)-में अनेक होना आवश्यक है।

एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता सृष्टिकी विलक्षणत है। हाथकी अँगुलियाँ एक होनेपर भी अनेक और अनेक होनेपर भी एक हैं।

दूसरोंकी सेवा करनेसे आपकी भक्ति, आपका भजन बढ़ेगा।

— — —

गीतामें कामना-त्यागकी बात विशेषरूपसे आयी है। कामना ही सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है। कामनासे लाभ किंचित् भी नहीं है और नुकसान कोई बाकी नहीं है!

गरीब घरकी कन्या लेनेके समान कोई पुण्य नहीं है! यह पुण्य आपका कल्याण करेगा।

— — —

परमात्मप्राप्तिमें बोध और लगनकी जरूरत है। संसारकी प्राप्तिमें क्रिया और पदार्थकी मुख्यता है। परमात्माकी प्राप्ति नित्यप्राप्तिकी प्राप्ति है और संसारकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति है।

लगनेसे बहुत जल्दी परमात्मप्राप्ति होती है। लगन न होनेसे साधन करना पड़ता है, जिसमें क्रियाकी मुख्यता रहती

है। परन्तु लगन होनेपर साधन स्वत: होता है, करना नहीं पड़ता। परमात्मप्राप्ति वास्तवमें सुगम है, पर लगन न होनेसे कठिन है। परमात्मा सदा मौजूद हैं। केवल लगनकी ही कमी है, और कोई कमी नहीं। वर्तमानमें पापोंकी लगन होनेसे भगवान्‌से बहुत ज्यादा विमुखता हो गयी है।

परमात्माको चाहनेसे वस्तुएँ आपकी गरज करेंगी। परमात्माकी तरफ चलनेवालेके लिये सब सहायक हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों आप परमात्माको चाहोगे, त्यों-त्यों वस्तुएँ आपके पास आयेंगी।

वास्तविक तत्त्व त्यागसे मिलता है।

— — —

अगर रुपया ही बढ़िया है तो फिर रुपयोंसे वस्तु क्यों खरीदते हो? रुपयोंको बढ़िया माननसे ही बुद्धि भ्रष्ट हुई है। जैसे मूलमें परमात्मा हैं, ऐसे ही आपने मूलमें रुपयेको मान लिया है। काम वस्तुओंसे चलता है, रुपयोंसे नहीं। भोग और रुपये महान् पतन करनेवाली चीज है।

कुटुम्बसे सुख चाहते हो, इसलिये उसका मोह छूटता नहीं। मोहके रहते हुए बढ़िया सेवा नहीं होती। बालक माँकी अपेक्षा पिताके पास, पिताकी अपेक्षा गुरुके पास और गुरुकी अपेक्षा सन्तके पास रहकर ज्यादा सुधरता है, श्रेष्ठ बनता है। कारण कि माँका बालकमें अधिक मोह होता है। माँकी अपेक्षा पितामें और पिताकी अपेक्षा गुरुमें मोह कम होता है। सन्तमें मोह होता ही नहीं। जितना-जितना मोह कम होता है, उतनी-उतनी बालककी उन्नति होती है।

जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है।

लेनेकी इच्छासे ताले लग जाते हैं, लेनेकी इच्छा छोड़नेसे ताले खुल जाते हैं।

कोई भगवान्‌को पुकारता है तो भगवान् नहीं देखते कि यह कैसा है?

ऐसा कोई काम नहीं, जो भगवान् भक्तके लिये न कर सकें! मनुष्य भक्त बनता है तो भगवान् भी उसके भक्त बन जाते हैं—‘**भगवान् भक्तभक्तिमान्**’ (श्रीमद्भा० 10। 86। 59)।

— — —

दूसरोंका कल्याण करनेमें जिसकी प्रवृत्ति होती है, वह भगवान्‌को विशेष प्रिय होता है। गीताका प्रचार करनेवाला भगवान्‌को विशेष प्रिय है। इसी तरह झूठ, कपट, दुर्गुण-दुराचारका प्रचार करनेवालेका महान् पतन होता है। जो स्वयं जैसा आचरण करता है, उसका वैसा प्रचार अधिक होता है।

दुर्गुण-दुराचारसे उतना नुकसान नहीं होता, जितना नुकसान दुर्गुणी-दुराचारी व्यक्तिके कुसंगसे होता है। पापकी अपेक्षा पापीका, पैसोंकी अपेक्षा लोभीका, स्त्रीकी अपेक्षा कामीका असर ज्यादा पड़ता है।

सत्संगके द्वारा कुसंगके भाव नष्ट हो जाते हैं और कुसंगके द्वारा सत्संगके भाव दब जाते हैं।

असत्यका आश्रय लेनेवाला हमारा नुकसान नहीं कर सकता।

प्रतिकूलता आनेपर भगवान्‌के अपनेपनको देखो। उनके अपनेपनमें जितना लाभ है, उतना प्रतिकूलतामें नुकसान नहीं है।

जिनकी भीतर राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भरे हैं, उन वक्ताओंके द्वारा अच्छा प्रचार नहीं होता, प्रत्युत उनके द्वारा समाजमें गन्दगी फैलती है। जैसे, विष्ठासे भरा झाड़ू कूड़ा तो साफ कर देता है, पर गन्दगी और फैला देता है!

— — —

संसारकी इच्छा 'कामना' है और परमात्माकी इच्छा 'आवश्यकता' है। संसारका सुख भोगूँ और परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—ये दोनों इच्छाएँ (कामना और आवश्यकता) मनुष्यके भीतर रहती हैं। प्रकृतिका अंश प्रकृतिको और परमात्माका अंश परमात्माको चाहता है। कामना कभी पूरी होती ही नहीं, पर आवश्यकता जरूर पूरी होती है।

असत्-जड़-दु:खरूप होते हुए भी संसार सत्-चित्-आनन्दरूप दीखता है; क्योंकि उसके पीछे परमात्मा हैं—**जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।** (मानस, बाल० 117। 4)

आप भीतरसे संसारसे अलग हो जायँ।

— — —

व्यवहारमें ही परमार्थकी सिद्धि हमारी संस्कृतिकी विलक्षणता है। भारतके लोगोंकी बुद्धि बड़ी विलक्षण है।

संसारका सम्बन्ध केवल सेवाके लिये है। सदा हमारे साथ न वस्तुएँ रहेंगी, न व्यक्ति रहेंगे।

संसारमें भगवान्‌की भक्तिके समान मूल्यवान कोई चीज नहीं है।

जैसे भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं रहता, ऐसे ही उत्तम पतिव्रताकी दृष्टिमें एक पतिके सिवाय कोई पुरुष नहीं रहता—***'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'*** (मानस, अरण्य० 5। 6)।

भोग भोगनेवाला रोगी होगा ही—यह नियम है।

पाप करनेवालेकी अपेक्षा ज्यादा पाप उसको लगता है, जो पापका प्रचार करता है, पापकी प्रेरणा करता है।

— — —

अलग वही होता है, जो पहलसे ही अलग है। मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये नहीं है—यह अनुभव हो जाय तो हम अभी विदेह हो जायँगे। विदेह वही होता है, जो पहलेसे ही विदेह है।

अपनेको शरीरके साथ न मानकर परमात्माके साथ मानें। शरीरके साथ अपनेको मानना गलती है। शरीर संसारके साथ है, हम परमात्माके साथ हैं। ऐसा मान लें तो फिर मरनेका दु:ख नहीं होगा। जो पीछे मूर्दा होगा, वही शरीर आज है।

— — —

अगर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहते हो तो सुखभोगका त्याग करो। संसारके सुखको मिट्टीमें मिला दिया जाय तो दूसरी जातिका सुख—महान् आनन्द मिलता है!

यदि सांसारिक सुख आपका और आपके लिये होता तो फिर सदा रहता, जाता नहीं।

कन्या एक अपरिचित व्यक्तिको अपना पति बना लेती है। पति तो दु:ख भी दे सकता है, त्याग भी सकता है, साधु भी बन सकता है और मर भी सकता है, पर भगवान्‌में ये चारों ही बातें नहीं हैं। इस प्रकार जब एक मनुष्यके भरोसे आप निश्चिन्त हो सकते हैं तो क्या भगवान्‌के भरोसे निश्चिन्त नहीं हो सकते?

'मन मेरा है' तो फिर वह कभी शुद्ध नहीं होगा; क्योंकि मनमें 'मेरा'-मल लगा लिया!

रामजीकी सेवाके लिये ही सीताजी रामजीके साथ वनमें गयीं, और रामजीकी सेवाके लिये ही उर्मिला घरपर रही।

लक्ष्मणजी सेवाके लिये गये थे। यदि उर्मिला भी जाती तो सेवामें बाधा लगती। यदि सीताजी न जातीं तो रावण-वध आदि लीलाएँ न होतीं।

वह उलटा काम कभी मत करो, जिसे सुलटा न कर सको। परशुरामजीने माता आदिको मार दिया तो उन्हें पुनः जिला भी दिया।

— — —

संसार नाशवान् है—यह ज्ञान होना चाहिये। सीखनेसे काम नहीं चलेगा। कोई परिस्थिति सदा नहीं रहती—यह सबका अनुभव है, फिर उसकी इच्छा क्यों करें? इच्छा पूरी होगी नहीं, पूरी होगी तो टिकेगी नहीं। आजतक कोई स्थिति नहीं रही, फिर अभी जो स्थिति है, वह सदा रहेगी क्या? इसका आप स्वयं अनुभव करो। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करो, दूसरोंकी सेवा करो।

जो होता है, वह आपकी इच्छासे नहीं होता, प्रत्युत होनहारसे होता है। होनेमें प्रसन्न रहो। करनेमें सावधान रहो। होनेमें सुख आये या दुःख आये, प्रसन्न रहो। प्रसन्न नहीं रहोगे तो क्या दुःख मिट जायगा? चिन्ता मत करो, उसका उपाय करो। करनेमें यह सावधानी रखो कि मेरे द्वारा किसीको दुःख न पहुँचे।

हम जी रहे हैं—यह बात झूठी है। हम मर रहे हैं—यह बात सच्ची है। जितनी उम्र बीत गयी, उतने तो हम मर ही गये! मकान यहाँ बना रहे हो, सजावट यहाँ कर रहे हो, पर खुद भागे जा रहे हो मृत्युकी तरफ! मरनेपर जहाँ जाना है, उसको ठीक करो। जो कर सकते हो, वह करते नहीं और जो नहीं कर सकते, उसके लिये चेष्टा कर रहे हो।

किसीको सुख दें तो इसके लिये परिश्रम करना पड़ेगा, पर किसीको दुःख न दें तो इसमें क्या परिश्रम है? किसीकी बुराई न चाहनेसे, न करनेसे और न सोचनेसे सबकी सेवा हो जायगी।

अच्छाई करनेसे सीमित अच्छाई होगी, पर बुराई छोड़नेसे असीम अच्छाई होगी।

भगवान्के जीते-जी किसीकी ताकत है कि हमारा बुरा कर दे? हमारा बुरा होनेवाला होगा, तभी होगा।

सत्संगसे हर हालमें खुश रहनेकी विद्या आ जाती है।

जो अपने हाथकी बात नहीं है, उस विषयमें चिन्ता क्यों करें? जैसे सिनेमामें जो बीत गया, वह भी मशीनमें है; जो चल रहा है, वह भी मशीनमें है; जो नहीं आया, वह भी मशीनमें है। ऐसे ही तीनों काल भगवान्रूपी मशीनें हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें?

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा। (मानस, बाल० 52। 4)

भगवान् बिना माँगे सहायता करते हैं, उपाय देते हैं, संग देते हैं। जो थोड़ा भी भगवान्पर भरोसा रखता है, उसकी भगवान् इतनी रक्षा करते हैं, इतना ध्यान करते हैं कि कह नहीं सकते!

— — —

शरणागति सबसे सुगम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है; परन्तु अभिमानी व्यक्ति शरण नहीं हो पाता। 'मैं गृहस्थ हूँ'—ऐसा माननेसे सब क्रियाएँ वैसी होंगी, जैसी गृहस्थको करनी चाहिये। परन्तु 'मैं साधक हूँ'—ऐसा माननेसे सब क्रियाएँ वैसी होंगी, जैसी साधकको करनी चाहिये। इसलिये सबसे पहले अहंताको बदलनेकी बहुत आवश्यकता है। अहंता ही संसारकी जड़ है। 'मैं साधक हूँ'—ऐसा माननेसे साधनकी मुख्यता रहेगी। राग-द्वेषरहित क्रियाएँ होनेसे गृहस्थ भी सुध

ार जायगा। 'मैं साधक हूँ'—यह अहंता होगी तो सत्संगकी बातोंको चट पकड़ लेगा। यदि 'मैं गृहस्थ हूँ'—यह अहंता होगी तो सत्संगकी बातें कैसे पकड़ेगा?

जिस साधनमें आपका मन लग जायगा, वह साधन तेज हो जायगा। जिससे भगवान्‌में ज्यादा तल्लीनता हो, भगवान्‌से ज्यादा सम्बन्ध जुड़े, वह साधन तेज हो जाता है।

साधन वही सिद्ध होता है, जो निरन्तर होता है। रसोई वही तैयार होती है, जो निरन्तर बनती है। जैसे श्वास हरदम लेनेके हैं, ऐसे ही साधन हरदम करेनका है।

जैसे रोजाना रोटी खाते हैं तो उसमें नित्य नया रस मिलता है, ऐसे ही रोजाना सत्संग करनेसे नित्य नया रस मिलता है। आप सत्संग करते हैं; अतः दुनिया आपसे अच्छे बर्तावकी आशा रखती है। आप अच्छा बर्ताव नहीं करेंगे तो लोगोंको धक्का लगेगा!

धनसे भी अधिक मूल्य धर्म तथा ईश्वरका समझना चाहिये। धर्म पालन करनेयोग्य और ईश्वर प्राप्त करनेयोग्य है।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके मुख्य सिद्धान्त—

1-मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है।

2-मनुष्य जिस वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, वेश-भूषा, देश आदिमें है, वहीं रहते हुए वह अपना कल्याण कर सकता है।

3-मनुष्यमात्र प्रत्येक परिस्थितिमें परमात्माको प्राप्त कर सकता है। इसके लिये उसे परिस्थिति बदलनेकी जरूरत नहीं है।

4-सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो कर्म करनेसे होती है, पर परमात्माकी प्राप्ति कुछ भी न करनेसे होती है।

5-परमात्माकी प्राप्ति जड़ता (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है।